श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-५०

साधना

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी
महाराज के
सदुपदेशका संक्षिप्त संग्रह

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी-४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०

प्रथम संस्करण
विक्रमाब्द : २०६०
भगवत्पादाब्द : १२१५
ख्रीष्टाब्द : २००३

अमूल्य वितरणार्थ

अक्षर योजना
मानस टाईपसैटर
दरियागंज,
नयी दिल्ली-२

मुद्रक
महिम पत्रण (प्रा. लि.)
आगरा

विषय सूची

श्री दक्षिणामूर्तये नमः

साधना

छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम अध्याय में बताया कि देव-ऋषि नारद जी आत्मज्ञान की जिज्ञासा से भगवान् सनत्कुमार की शरण में गये।

''ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं हो वाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स हो-वाच'' ।।१।।

प्रसंग

'हे भगवान् ! मुझे उपदेश कीजिये' ऐसा कहते हुये नारद जी ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर सनत्कुमार के प्रति उपसन्न हुये अर्थात् शिष्य-रूप से उनके समीप गये। अपने प्रति नियमानुसार उपसन्न हुये नारद जी से भगवान् सनत्कुमार ने कहा—'तुम आत्मा के विषय में जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुये मेरे पास उपदेश लेने के लिये आओ; तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा।' तब नारद ने कहा—'भगवान् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, पाँचवाँ वेद अर्थात् व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्क शास्त्र, नीति शास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या

और संगीत विद्या—आदि यह सब मैं जानता हूँ।' इतनी विद्यायें जानने पर भी नारद जी को शान्ति नहीं मिली; शान्ति मिले कैसे? किसी राजा को राज्य, वैभव, स्त्री, पुत्र और सम्मानादि सभी प्राप्त हों, परन्तु उसके शरीर में भयंकर पीडा हो तो वह सारा वैभव भी उसे शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। इसी प्रकार संसार का बड़े से बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी आत्मज्ञान के बिना पूर्ण शान्ति प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। देवर्षि नारद जिन्होंने वेद वेदाङ्ग का सम्यक्रूपेण अध्ययन कर लिया है बिना आत्म-साक्षात्कार किये दुःख एवं संघर्ष के पाश में अपने को बँधा हुआ अनुभव करते हैं फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है ?

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।'

'बिना भगवान् का साक्षात्कार किये दुःखों से छुटकारा पाना आकाश को चमड़े के समान लपेट लेने की तरह असम्भव है।' यह श्रुति का निर्णय है।

अतः नारद जी कहते हैं

'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्-दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु। इति।' (छा० उ० ७।१।३)

'हे भगवन् ! मैं केवल शब्द और उनका अर्थ जानता हूँ, किन्तु आत्मा को नहीं जानता हूँ—जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है; और मैंने आप सरीखे महान् गुरुओं से सुना है कि केवल आत्म-ज्ञानी ही शोक को पार कर लेता है; इसलिए हे भगवन् ! इस दुःख-सागर को पार करने में मेरी सहायता कीजिये।'

इससे यह सिद्ध होता है कि केवल शास्त्र-ज्ञान से जन्म-मरण चक्ररूप शोक-समुद्र को पार नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो अनुभव की आवश्यकता है। यदि अध्ययनमात्र से ही कार्य सिद्धि हो जावे तो सद्गुरु की क्या आवश्यकता ? किन्तु सद्गुरु भी

अधिकारी शिष्य को ही ब्रह्म-विद्या (आत्म-ज्ञान) की दीक्षा देता है; इसी कारण भगवान् सनत्कुमार ने उसकी (नारद की) योग्यता का परिचय माँगा। नारद ने सर्वप्रथम बताया कि उन्होंने वेद पढ़े हैं। वेद वह शब्दराशि है जो अनादि काल से चली आई है; जिसमें कुल एक लाख मन्त्र हैं—अस्सी हज़ार मन्त्र कर्मकाण्ड के, सोलह हज़ार मन्त्र उपासनाकाण्ड के, और केवल चार हज़ार मन्त्र ज्ञानकाण्ड के हैं। संसार में यह नियम है कि जो चीज़ जितनी कम मात्रा में होती है, उतनी ही वह मूल्यवान् होती है और जिस वस्तु का जितना बाहुल्य होता है उतना ही उसका मूल्य कम होता है; जैसे सोने की अपेक्षा कोयले का मूल्य बहुत कम है। ठीक इसी प्रकार कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड अधिक मूल्यवान् है। जिसकी योग्यता रखने वाले अधिक होते हैं, उतनी ही अधिक उसकी सामग्री होती है। इसी कारण कर्मकाण्ड का बाहुल्य है। धर्म का अधिकार सबको है। बिना कर्मकाण्ड किये चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती

'कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थमेकाग्र्यार्थमुपासना।
मोक्षार्थं ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तनिश्चयः।।'

उपासना द्वारा ही अन्य बातों से हटाकर ईश्वर में चित्तवृत्ति लगाना संभव है। इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये ब्रह्मज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

वेद के अन्दर अखण्डता है; उसमें विभाग कल्पित हैं और कल्पना के आधार पर ही उसका निम्नलिखित विभाजन किया गया है—

१. कर्मकाण्ड (संहिता भाग) २. उपासनाकाण्ड (ब्राह्मण-आरण्यक भाग), ३. ज्ञानकाण्ड (उपनिषद् भाग)।

किन्तु यह प्रायोवाद से कहते हैं क्योंकि संहिताओं में ज्ञानकाण्ड तथा आरण्यकों में भी कर्म-उपासना की विधियाँ मिलती हैं। जैसे-जैसे विषय उपस्थित होते हैं उन सबको वहीं कह दिया जाता

है।

ईशावास्योपनिषद् में ज्ञान-विषयक वर्णन ही किया गया है। ज्ञान की साधना के साथ कर्म और उपासना अवश्य बताई जाती है। बिना कर्म और उपासना के ज्ञान-प्राप्ति की संभावना नहीं। इस प्रकार, कर्म-उपासना एवं ब्रह्मज्ञान शृङ्खलानियम से क्रमानुसार एक-दूसरे से संबंधित हैं।

देवर्षि नारद ब्रह्मनिष्ठ भगवान् सनत्कुमार जैसे सद्गुरु को प्राप्त करके आज अपने पुण्यों का उदय मानते हैं। जब तक पुण्यों का उदय नहीं होता तब तक सत्संग नहीं होता "पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता सत्संगति संसृति कर अंता।" (मानस)

नारद का अशान्त चित्त आज सद्गुरु के प्रभाव से शान्ति का अनुभव कर रहा है, "कारणगुणाः कार्येऽनुवर्तन्ते" मिट्टी का गुण घड़े में भी हो जायेगा। आचार्य से जो विद्या प्राप्त की जाती है वह फलदायक होती है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति ब्रह्मनिष्ठ आचार्य (गुरु) द्वारा ही संभव होती है। किन्तु शिष्य को भी ब्रह्मज्ञान लेने से पूर्व योग्यता प्राप्त कर लेने की नितान्त आवश्यकता है। अनधिकारी शिष्य को योग्य गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देता। सारे संसार के ऐश्वर्य की ब्रह्मविद्या से तुलना नहीं की जा सकती। लौकिक सम्पत्ति केवल लोक-सुख के लिये होती है किन्तु ब्रह्मविद्या का अनन्त सुख होता है। अनधिकारी को विद्या तथा सम्पत्ति उल्टा फल देती है अतः शिष्य को उपयुक्त गुणों से युक्त (साधन-संपन्न) होना अनिवार्य है।

साधन सम्पत्ति

औपनिषद ब्रह्मात्मविद्या चाहने वाले शिष्य के गुण, योग्यता साधन-चतुष्टय सम्पत्ति में एकत्र किये जाते हैं। ज्ञानाधिकार की प्राप्ति के लिये १. विवेक २. वैराग्य ३. शम-दमादि और ४. मुमुक्षा की आवश्यकता है। साधन-चतुष्टय के पश्चात् ही ब्रह्मविद्या प्राप्त

करने का अधिकार प्राप्त होता है। बिना साधन-चतुष्टय के सत्यस्वरूप आत्मा में स्थिति नहीं हो सकती।

साधन-चतुष्टय हैं–

(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक–नित्य और अनित्य अर्थात् आत्मा और अनात्मवस्तुओं का विवेक।

(२) इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विराग–लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोग में वैराग्य होना।

(३) शम-दमादि षट् सम्पत्ति–शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान–छः सम्पति।

(५) मुमुक्षुत्व–मोक्ष पद की इच्छा अर्थात् सांसारिक दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाकर मुक्त हो जाने की तीव्र तथा उत्कट अभिलाषा।

"साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति।।"
(विवेकचूडामणि-१८)

१. विवेक

विवेक सब साधनों का बीज है। जिस प्रकार प्रशिक्षित घोड़ा ही युद्ध में सवार की रक्षा करता है; यदि घोड़े का भली-भाँति प्रशिक्षण न हो तो युद्ध में पराजय निश्चित है। इसी प्रकार बिना विवेक के साधना बड़ी कठिन है। अज्ञान रूपी वैरी ने अनादि काल से तुम्हें नित्य बद्ध बना रखा है; इसको मारना है। जिनको तुम अपना समझते हो उनको इसने अपना बना रखा है। मन इन्द्रियाँ इत्यादि तुम्हारे शत्रु हैं। वैराग्य रूपी तलवार तथा धैर्य पूर्वक तितिक्षा रूपी कवच को लेकर अज्ञान रूपी शत्रु से लड़ने पर हार की संभावना नहीं। विवेक सभी करते हैं किन्तु इसमें विचार की आवश्यकता है। "अलग करना" से विवेक की सिद्धि होती है। जैसे एक सज्जन को प्रथम रु. १५० मासिक की नौकरी प्राप्त हुई; उसमें उन्हें प्रातः तथा सायंकाल भजन-पूजन एवं सत्संग करने के

लिये पर्याप्त समय मिल जाता था; किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने पहली नौकरी छोड़कर दूसरी रु. ३५० मासिक की नौकरी कर ली। इस नौकरी में उनके पास समय का अभाव हो गया, रात दिन नौकरी में ही व्यस्त रहने लगे; भजन-पूजन और सत्संग के लिये समय नहीं रहा। इस प्रकार का लौकिक विवेक असली विवेक से गिराने वाला होता है। ठीक वस्तु को जानना आवश्यक है किन्तु अहंकार ठीक विवेक नहीं करने देता; अपितु उल्टे रास्ते में लगा देता है। बुद्धि यदि बोलना भी चाहती है तो अहंकार उसे रोक देता है और आत्मज्ञान नहीं होने देता। प्रयत्न-पूर्वक बुद्धि से सीधा निर्णय नहीं होने देता।

जब जीव जग जाता है तब पता चलता है कि मैं कभी जन्म लेने वाला नहीं, मैं कभी मरने वाला नहीं, मुझ में वासनायें नहीं, मुझ में माया नहीं, मैं निर्विकार स्वरूप हूँ। किन्तु जब तक जागता नहीं तब तक अविवेक करता रहता है। अविवेक बंधन में डालने वाला है। संसार में मृत्यु क्या है ? प्राण-वियोग। किन्तु ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद करना ही मृत्यु है। इसलिये कहा है :

"प्रमादो वै मृत्युः।"

"प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायाम् न कर्त्तव्यो कदाचन्।"

एक प्रमादी राजा था। एक दिन सायंकाल वह अपने मंत्रियों सहित राजमार्ग से जा रहा था, इतने में शृगालों के रोने की आवाज़ सुनाई दी। राजा ने मंत्रियों से पूछा "यह कौन रो रहा है?" मंत्रियों ने उत्तर दिया "ये सियार लोग रो रहे हैं।" उसने फिर पूछा "क्यों ?" मंत्रियों ने कहा "महाराज ! इनके रहने को मकान नहीं हैं; इस कारण रो रहे हैं।" राजा ने आज्ञा दी "राज्य के कोष से इनके रहने की शीघ्र व्यवस्था करो।" मंत्रियों ने कहा "जो आज्ञा" और राजा की मूर्खता को जानकर राज्य-कोष से पर्याप्त धनराशि निकाल कर खूब आनन्द उड़ाने लगे। कालान्तर में राजा पुनः मंत्रियों के साथ सायंकाल उसी मार्ग से निकले और उन्होंने उसी

प्रकार शृगालों के रोने की आवाज़ सुनी तो मंत्रियों से पूछा "ये प्रजाजन (सियार) क्यों रो रहे हैं ? क्या इनके रहने की व्यवस्था नहीं हुई ?" मंत्रियों ने उत्तर दिया "महाराज ! इनके रहने का प्रबन्ध तो कर दिया है; किन्तु इनको अन्न क्षेत्र की कमी है, अतः इसकी और व्यवस्था की जाये।" इस प्रकार राजा से पुनः स्वीकृति लेकर प्रचुर मात्रा में मंत्रीगण राज्यकोष से धन निकालने में सफल हो गये और खूब मौज उड़ाने लगे। कुछ समय के पश्चात् राजा फिर मंत्रियों सहित सायंकाल राजमार्ग से निकले तो पूर्व की भाँति शृगालों के रोने को सुनकर पूछने लगे "अब ये प्रजाजन (सियार) क्यों रो रहे हैं ? क्या इनके अन्न की व्यवस्था अभी तक नहीं हुई?" मंत्रियों ने उत्तर दिया, "महाराज ! अब इन्हें कपड़ों की आवश्यकता है। आजकल ठंड पड़ रही है और इनके पास वस्त्र पहनने को नहीं हैं अतः रो रहे हैं।" राजा ने कहा "शीघ्र ही इनके लिये कपड़ों की व्यवस्था करो।" मंत्रियों ने उत्तर दिया "महाराज! राज्य कोष तो खाली हो गया; अब तो आपको ही रुपये का प्रबन्ध करना पड़ेगा।"

राजा यह सुनकर बड़ा चिन्तित हुआ और उदास रहने लगा। एक दिन उसकी रानी ने उससे चिन्तित रहने का कारण पूछा। राजा ने कहा "राज्य कोष में धन की कमी है और प्रजा कष्ट उठा रही है; यदि तुम अपने पिता के यहाँ से कुछ धनराशि मँगा सको तो मेरी चिन्ता दूर हो सकती है।" रानी ने विशेष दूत द्वारा अपने पिता को संदेश भेजकर रुपया मँगाया। उसका पिता भी बड़ा ऐश्वर्यवान् एवं योग्य राजा था। उसने सोचा—मेरे जामाता के राज्य-कोष में पर्याप्त धनराशि थी जो इतनी शीघ्र समाप्त होने वाली नहीं थी, अवश्य ही वहाँ के प्रबन्ध में किसी प्रकार का घोटाला है। अतः उसने धन तो प्रचुर मात्रा में भेज दिया किन्तु साथ अपने एक योग्य अर्थमंत्री को भी भेज दिया। जब दूसरे राज्य के मंत्री ने आकर वस्तुस्थिति का पता लगाया तब ज्ञात हुआ कि

राज्य-कोष से 'सियार खाते के नाम' बड़ी-बड़ी रकमें निकाली गई हैं; इसलिये उसने शीघ्र ही जान लिया कि बस यही गोलमाल है। किन्तु राजा से वह प्रत्यक्ष इस घोटाले को न कह कर पूछने लगा "महाराज ! आपके राज्य-कोष से 'सियार खाते' में बड़ी रकमें निकाली गई हैं। यह खर्च खाता मेरी समझ में नहीं आया।" राजा ने कहा "अरे ! इसी रुपये से तो सियार लोगों के रहन-सहन की व्यवस्था की गई है।" मंत्री बुद्धिमान् था; शीघ्र ही समझ गया और राजा से सियारों के रहने और खाने की व्यवस्था का स्वयं निरीक्षण करने का अनुरोध करने लगा। राजा ने अपने मंत्रियों को बुलाकर कहा कि "मैं अब तक की समस्त योजनाओं को स्वयं देखना चाहता हूँ।" मंत्रीगण यह सुनकर बहुत चकराये और उनके झूठ का भण्डा-फोड़ हो गया।

इसी प्रकार *विवेक* की जागृति होने से अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। आत्मा रूपी राजा ने इन्द्रियों और मन के अंतर्गत आनंदरूप कोष को छोड़ दिया है। वे इसे विषयरूप सियारों की ओर प्रेरित करते हैं। इस प्रकार आत्मा का आनन्द रूपी खज़ाना लुट गया। यदि सत्संग और गुरुरूप नया मंत्री शास्त्र के द्वारा स्व-स्वरूप का परिज्ञान कराता है तो विवेक जाग्रत् हो जाता है। फिर बंधन नहीं रहता और आत्मा इन्द्रियों को अपने-अपने कर्म में लगा देता है।

"आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।" (गीता ६।५)

विवेक द्वारा आप ही अपने मित्र और अविवेक द्वारा आप ही अपने शत्रु हैं। इन्द्रियों के बंधन से छूटना विवेक द्वारा ही संभव है। मनुष्य मोहरूपी कीचड़ से बिना किसी सहायता के खुद हाथ-पैर मारकर जितना निकलने का प्रयत्न करता है उतना ही अधिक फँसता है। अतः विवेक रूपी युक्ति द्वारा ही मोह और ममता से छुटकारा पा सकता है।

जैसे अंधकार का चला जाना प्रकाश के आने पर ही संभव है

इसी प्रकार बिना विवेक के अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। किन्तु यह ध्यान रहे कि अंधकार का अभाव प्रकाश नहीं होता और बिना आँख से अंधकार का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार सब इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को केवल रोक लेने से ही ब्रह्माकार वृत्ति नहीं बन सकती। हठपूर्वक इन्द्रिय-संयम कठिनता से संभव होता है। विवेक द्वारा ही परमेश्वर की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु विवेक का इन्द्रियों से विरोध है। 'तस्माद् एषाम् तन्न प्रियम् यद् एतद् मनुष्या विद्युः'—जैसे मनुष्य को अपने गाय आदि पशु प्रिय हैं उसी प्रकार मनुष्य देवताओं को प्रिय हैं। जब-जब मनुष्य आत्म-ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है तब-तब इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता विघ्न डालते हैं—

**"इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना, तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहिं विषय बयारी, ते हठि देहिं कपाट उघारि।"**

काम, क्रोध, मोह, मद इत्यादि मनुष्य को पथ-भ्रष्ट करने वाले हैं, यदि एक भी इनमें से हो तो भगवत्-प्राप्ति में बाधक सिद्ध होता है। मनु महाराज ने कहा है—

**"इन्द्रियाणाम् प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य ततस्तानि ततः सिद्धिं नियच्छति।"**

इन्द्रिय-संयम की सहायता से विवेक प्रवृत्ति प्रारंभ करनी चाहिये। संयम विचारपूर्वक ही संभव है, हठपूर्वक नहीं।

जो लोग विवेक से काम नहीं लेते, वे अनित्य पदार्थों में नित्य और नित्य में अनित्य भावना करके भटकते रहते हैं; फलतः वे विवेक के स्थान में अविद्या (माया) के जाल में फँस जाते हैं। सत्पुरुषों के संग से ही 'विवेक' अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्माऽधर्म एवं कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का वास्तविक ज्ञान होता है।

**"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः।।' (विवेकचूडामणि)**

'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चय है वही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है।'

२. वैराग्य

वैराग्य मोक्ष प्राप्त करने का अन्यतम साधन है। मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का मूल कारण है "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।" जब तक जड़ मज़बूत न हो, वृक्ष की स्थिरता नहीं हो सकती; इसी प्रकार बिना वैराग्य के ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः ज्ञान की सिद्धि के लिये वैराग्य की आवश्यकता है। इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना *त्याग* और जाने पर भी आसक्ति का न रहना *वैराग्य* कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों में रमण न करने देना त्याग है, विषयों से प्रेम न करना ही वैराग्य है और वैराग्य का फल संन्यास है। बिना त्याग के वैराग्य की उपलब्धि नहीं, अंदर के राग की निवृत्ति न होने पर फिर ज्यों की त्यों हालत हो जाती है। जैसे रोग की जड़ न टूटने पर रोगी पुनः रोगग्रस्त हो जाता है; ठीक इसी प्रकार तपस्वी यदि विवेकपूर्ण त्याग न करे, केवल किसी सिद्धि आदि पाने के लिये हठमात्र से विषयों से दूर रहे तो मौका आने पर राग की प्राप्ति हो कर विषयासक्त हो जाता है। मन सर्वथा विषयों में जाये ही नहीं यह मुक्ति है। मुक्ति में आनन्द ही आनन्द है। विषय और आनन्द का साहचर्य नहीं है—सुषुप्ति के अंदर आनंद रहता है और विषय कोई नहीं रहता है। मोक्ष में भी केवल आनन्द ही है "विज्ञानं आनंदं ब्रह्म।"

इन्द्रियों का विषयों की तरफ जाना मृत्यु का कारण है। शब्दादि विषयों में सुख नहीं अतः भूलकर भी इनसे प्रीति न करे। यदि विषयों में सुख होता तो विषय भोगने से तृप्ति होती, एक विषय भोगते ही दूसरे की कामना न होती; पर ऐसा नहीं होता, विषय-भोग से अतृप्ति ही होती है। अतः सिद्ध होता है कि विषयों में आनंद नहीं। जो थोड़ा-बहुत सुख मिलता-सा लगता है वह भी

अत्यंत चंचल होता है, स्थायी नहीं। समाधि में भासमान योगानन्द भी निश्चित करा देता है कि आनंद विषयों में नहीं हो सकता क्योंकि समाधि तो विषयों से सर्वथा शून्य स्थिति है। साधारण व्यक्ति सुषुप्ति पर विचार करे तो भी समझ सकता है कि आनंद विषयों पर बिल्कुल भी निर्भर नहीं है बल्कि विषय न रहने पर ही भरपूर आनंद उपलब्ध होता है ! कुल विषयों का सामान्य वर्गीकरण करें तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पाँच वर्ग हैं अतः शब्दादि पाँच ही विषय कह दिये जाते हैं। इनमें से एक भी विषय मृत्यु के लिये काफ़ी है। "अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुये हरिण, हाथी, पतङ्ग, मछली और भौंरे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है।"

"शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-मीन-
भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्।।

(विवेकचूडामणि ७८)

क. हरिण—गायन सुनने के वश से मृत्यु को प्राप्त होता है। (कर्णेन्द्रिय की आसक्ति)

ख. मातङ्ग (हाथी)—स्पर्शसुख के वशीभूत हुआ पकड़ा जाता है। (स्पर्शेन्द्रियासक्ति)

ग. पतङ्ग—रूप का मोह—बत्ती में आसक्ति होने से जल जाता है। (रूपासक्ति) साधारण मनुष्य भी रूपासक्ति में फँसकर अधोगति को प्राप्त होता है।

घ. मीन—रसनेन्द्रिय (जीभ) की आसक्ति से मृत्यु को प्राप्त होता है। (रसासक्ति)

मनुष्य भी स्वभाव के वशीभूत खाने पीने का नियंत्रण नहीं रख सकता, नियम को छोड़कर अनियम को ग्रहण करता है। मन एक

भौतिक पदार्थ है, जैसा खाओ वैसा ही मन बनता है। ''आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।'' आहार यदि शुद्ध रखो तो मन शुद्ध हो जाता है। लोकोक्ति भी है ''जैसा खावे अन्न वैसा बने मन।'' पेट्रोल में पानी मिलाकर मोटर चलाओ तो ठीक नहीं चलेगी। इसी प्रकार मन को शुद्ध गति देनी है तो आहार शुद्ध रखना पड़ेगा। आज लोग मांस-मछली खाते हैं, सफाई देते हैं कि भगवान् ने बनाये हैं तो क्यों न खायें ! बनाये तो भगवान् ने मिट्टी-पत्थर भी हैं, वे क्यों नहीं खाते ? भगवान् ने सिर्फ चीज़ें ही नहीं नियम भी बनाये हैं। अनियम पर चलने वाला अपना जीवन नष्ट करता है। तामस आहार होगा तो मनन में मन नहीं लग सकता। किस धन से खरीदा, सामग्री कैसी है, किसने और किन नियमों का पालन करते हुए पकाया है, खाने वाले ने किन नियमों पूर्वक खाया है इस सबसे मन पर असर पड़ता है। आदर्श स्थिति रहे तो सात वर्षों में अन्नदोष मिटता है। इसीसे इसका महत्त्व आँक सकते हो।

ङ. भ्रमर—भृङ्ग सुगन्धि में आसक्त होता है। (घ्राणेन्द्रियासक्ति)

''रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा ! हन्त हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार।''

एक भ्रमर दिवस के अवसान में कमल के मकरंद का मधुर-मधुर रसास्वादन कर रहा था। इतने में सूर्यास्त होने पर वह कमल के अंदर बंद हो गया और विचार करने लगा कि ''रात्रि बीत जायेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होगा और कमल खिलेंगे।'' ऐसा मन में चिन्तन कर ही रहा था कि अफ़सोस ! कमल की डंडी समेत हाथी ने उखाड़ कर खा लिया। अतः सुख की आशा बड़ी भयंकर है। मानव विषय-सुखों के अंदर बंद है। मृत्यु रूपी हाथी आकर अचानक ही मार देता है। मनुष्य जानते हुये भी मोह के कारण फँसा ही रहना चाहता है, थोड़े से विषयसुख के चक्कर में

जीवन व्यर्थ बिता देता है।

''इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।'' (गीता १६।१३)

''मैंने आज यह तो प्राप्त कर लिया है और इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास इतना धन है और फिर और भी होगा।'' इन्हीं योजनाओं में फँसा मनुष्य पुरुषार्थ के लिये कोई यत्न नहीं करता।

श्रुति ने बताया है कि जिन्हें तुम संसार के सुख समझ रहे हो ये ब्रह्मानंद के लवांश से भी अनंत गुणा कम हैं और वह आनंद-सागर स्वयं तुम हो ! अतः बुद्धिमान् कभी सुख के लिये विषय की तरफ नहीं जाता वरन् आत्मनिष्ठा को ही पाने में यत्नशील होता है। महाराज भर्तृहरि ने कहा है

'धन्यानां गिरिकंदरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचित-प्रासादवापीतट—
क्रीडाकानन-केलि-कौतुक-जुषामायुः परिक्षीयते।'
(भर्तृ. वैराग्य शतक १०३)

'वे धन्य हैं, जो पर्वतों की गुफाओं में रहते हैं और परब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं, जिनके आनन्दाश्रुओं को उनकी गोद में बैठे हुये पक्षी निर्भयता से पीते हैं। हमारा जीवन तो मनोरथों के महल की बावड़ी के किनारे के क्रीडा-स्थल में लीलायें करते हुये वृथा ही व्यतीत होता है।' मनुष्य शेखचिल्ली की तरह मन के लड्डू पकाता रहता है और पूर्व संस्कारों से कभी सन्मार्ग की प्रेरणा मिले भी तो टालता रहता है कि 'कल से सन्मार्ग पर लगूँगा।' यों कल, कल करते-करते सारी आयु समाप्त हो जाती है।

विषयों में सुख है ही नहीं, यदि हो तो मिले। सुख का संबंध इच्छा से है। इच्छा होने पर ही उसकी पूर्त्ति के लिये प्रवृत्ति और

पूर्त्ति होने पर सुख होता है। इच्छा पर पूर्ण नियंत्रण वैराग्य है। अतः बिना वैराग्य के आनंद की उपलब्धि नहीं। जिस प्रकार हरिण की नाभि में कस्तूरी होते हुये अज्ञानवश सुगन्धि के लिये इधर-उधर दौड़ता है; किन्तु उसका पता नहीं कर पाता है इसी प्रकार मनुष्य विषयों में लिप्त होने के कारण अथवा मन में विक्षेप होने के कारण "आत्मा" को प्राप्त करने में असफल रहता है। इच्छा के द्वारा प्रवृत्ति होने पर उसे आनंद का अनुभव प्रतीत होता है किन्तु इच्छा-रहित होने पर ही वास्तविक सुख-प्राप्ति अथवा अपने आत्मानंद का अनुभव होता है; यदि इच्छा हो तो विषय-प्राप्ति सुख का हेतु लगती है किन्तु वस्तुतः वही दुःख का हेतु बन जाती है।

कामादि शत्रुओं को जीतने में बड़ा युद्ध करना पड़ता है। बड़े-बड़े महारथी इन प्रबल शत्रुओं से पराजित हो जाते हैं। युद्ध-क्षेत्र में यदि अच्छा सारथि है तो विजय निश्चित है और यदि सारथि विपरीत हो तो विजय की आशा नहीं। कृष्ण जैसे सारथि को पाकर अर्जुन कुरु-क्षेत्र में विजयी हुआ इसके विपरीत महारथी कर्ण को अपने प्रतिकूल विचार रखने वाले शल्य को सारथि रखने पर पराजय का मुँह देखना पड़ा। इसी प्रकार "आत्म-ज्ञान" रूपी विजय को प्राप्त करने के लिये विवेक को सारथि बनाना पड़ेगा, और वैराग्य को शस्त्र बनाना पड़ेगा; यह नहीं कर पाये तो पराजय निश्चित है।

जब फूल खिल जाता है तो भ्रमरों के पास निमंत्रण नहीं भेजा जाता। इसी प्रकार साधना सम्पन्न हो जाती है तो ब्रह्मविद्या ग्रहण करने में और स्थिर होने में देरी नहीं लग सकती। जैसे शेरनी का दूध सोने के प्याले में ही दुहा जाय तो वह दूध स्थिर रहेगा ऐसे ही साधन-चतुष्टययुक्त चित्त में तत्त्वबोध स्थिर रहेगा अन्यथा ब्रह्मविद्या पहले समझ में नहीं आवेगी और यदि आ गई तो स्थिर नहीं रह सकेगी। शास्त्रों ने वैराग्य पर अधिक ज़ोर दिया है क्योंकि साधन बटोरने में प्रेरणा को तीव्र बनाने वाला यही होता है। दुःख का

अनुभव होने पर संसार से मन हट जाता है। जैसे गेंद सामने टक्कर खाकर वापस लौटती है इसी प्रकार मनुष्य विषयों को ढूँढने बाहर जाता है और जब उसे ठोकर लगती है, वह दुःख अनुभव करता है, तब आत्मा परमात्मा की ओर मुड़ता है। विचारशील लोग दुःख को सौभाग्य समझते हैं ! महाभारत के पश्चात् पांडव आनंद से रहने लगे। ग्यारह वर्ष के पश्चात् भगवान् कृष्ण उनके पास गये। सबने कहा 'अब शान्ति मिली।' कुन्ती ने कहा "मुझे ऐसा सुख और शान्ति अच्छी नहीं लगती। इससे तो विपदा आये तो ही अच्छी। विपत्ति में प्रतिक्षण आपको याद करते थे और आप बार-बार दर्शन देते थे, लेकिन अब बड़ा लम्बा समय व्यतीत हो गया, आपका दर्शन नहीं मिलता।"

दुःख में व्यक्ति परमात्मा की ओर देखता है। सुख में ठीक इसके विपरीत होता है। दुःख में परमात्म-चिन्तन होता है; इसी से प्रायः भगवान् अपने भक्तों को दुःख ही देते हैं। जो सत्य-निष्ठ हैं उनके सामने कठिनाइयाँ आती हैं और जो लोग धर्म-विरुद्ध आचरण करते हैं, उनका जीवन सुखमय होता है। अतः लोग कहते हैं "भगवान् का भजन करने से क्या लाभ ?" लेकिन भगवान् सोचते हैं कि सुख-सुविधा में रहा तो आसक्ति रहने से यह मुझे भूल जावेगा। अतः किसी कवि ने दुःख की प्रशंसा में कहा है—

"सुख के माथे सिल पड़े, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की, जो पल-पल नाम रटाय।।"

दुख से वैराग्य प्राप्त होने पर मनुष्य की वृत्ति परमात्मा की ओर जा सकती है। महाराज भर्तृहरि जी को दुःखानुभव द्वारा ही पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति हुई। इस प्रकार कोई-न-कोई दुःखानुभव ठोकर खाकर ही प्राप्त होता है।

यदि केवल दुःख से वैराग्य होता है तो वह क्षणिक होता है। दुःख के हटने पर वैराग्य भी हट जाता है। यदि विचार से वही परिपुष्ट हो जावे तो फिर वैराग्य स्थिर हो जाता है जैसे खाद-पानी

और मिट्टी के संयोग से जो अंकुर निकलता है वह परिपुष्ट होता है और मूँग या चना भिगोकर जो अंकुर प्रस्फुटित हो जाता है वह खाने के काम ही आता है, उन अंकुरों से खेती नहीं होती !

वैराग्य के भेद हैं—

१. मंद-वैराग्य, २. तीव्र-वैराग्य, ३. तीव्र-तर वैराग्य।

१. मनुष्य को रोग होने पर खाने से वैराग्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में स्वाद का परिज्ञान नहीं रहता। पर जुकाम ठीक होने पर भोजन पुनः स्वादिष्ट लगने लगता है। यह *मंद वैराग्य* है। दुःख से और दुःख रहते ही यह वैराग्य भी रहता है, न स्थायी और न सर्वविषयक होता है।

२. भोगों में उतना रस नहीं, संसार की असारता परिलक्षित होना—*तीव्र वैराग्य* है। यह भी होता दुःख से है किन्तु दुःख के मिट जाने पर भी दुःख की तीव्रता के कारण, 'फिर भी ऐसा दुःख हो सकता है' यह याद आते रहने से यह वैराग्य कुछ स्थायी और व्यापक होता है।

३. संसार के स्वरूप को (असारता को) कभी नहीं भूलने से—*तीव्रतर-वैराग्य* होता है। जैसे लगातार घाटा हो तो अंदर ही अंदर चिन्ता बनी रहती है, ऐसे विवेकी को यह वैराग्य बना रहता है। इसीसे समयान्तर के पश्चात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति संभव है। शेर ने पकड़ लिया और अब खाना ही चाहता है; तब जैसे संसार में कुछ प्राप्तव्य नहीं दीखता; एकमात्र बचना ही लक्ष्य रहता है; वैसे यह दृढ वैराग्य होने पर संसार का आकर्षण समाप्त हो जाता है, केवल परमात्मप्राप्ति ही प्राप्तव्य रहती है। इस वैराग्य से संसार त्याग सद्यः होता है, किसी 'योजनाबद्ध' तरीके से नहीं कि इस साल चार में से एक दुकान छोड़ी, अगले साल दूसरी छोड़ेंगे, फिर लड़कों को छोड़ेंगे, तब पत्नी को छोड़ेंगे इत्यादि। जैसे हाथ में गरम लोहा पड़े तो उसे तत्काल फेंकते हैं वैसे तीव्रतर वैराग्य से तुरंत संसार त्याग दिया जाता है।

दुःख के उत्पन्न होने पर विवेक द्वारा पका हुआ ही भगवत्-प्राप्ति का हेतु बनने वाला पुष्ट वैराग्य होता है। केवल दुःख से प्राप्त वैराग्य क्षणिक होता है, उसमें स्थिरता नहीं होती। दौलत की चाट या दूध की फेन (झाग) जैसे दीखता ही सारवान् है होता नहीं, वैसे विवेकरहित वैराग्य भी वास्तव में निर्वीर्य होता है। बिना दुःख के वैराग्य नहीं होता तो दुःख को बुलायें कहाँ से ? विचारशील पुरुष को पद-पद पर दुःख सुस्पष्ट है! अविचारशील पुरुष तो दुःख में भी वैराग्य नहीं प्राप्त करता—लड़कों ने घर से अपने पिता को बाहर निकाल दिया। बाहर एक महात्मा मिले, उसने कहा "मेरे लड़कों ने धक्का मार कर मुझे घर से निकाल दिया है।" महात्मा ने कहा "इन्हें छोड़कर हमारे साथ चल और भगवान् का भजन कर।" वह कहने लगा "मेरे ही लड़कों ने तो मुझे निकाल दिया है; मैं क्यों जाऊँ ? जाने से लड़कों की बदनामी होगी!" इस प्रकार विचार का अभाव होने के कारण दुःख से भी वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। इन्द्रियाँ सब पटु हैं, गृह में धन की कमी नहीं है, उस सर्वथा अनुकूल अवस्था में विचारशील दुःख पहचान लेता है तो वैराग्यवान् होकर स्वात्मबोध के मार्ग को प्रशस्त करने लगता है। भगवान् ने सरल उपाय वैराग्य का बताया—

"जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्"(गीता १३।८)

जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि ये चार अवस्थाएँ सभी मनुष्यों की होती हैं। "बाल्ये दुःखाऽतिरेकात्" बालक के जीवन में बड़ा दुःख है, रोना ही जानता है; मल-मूत्र इत्यादि से भी अपने को हटाने में असमर्थ, पूर्णतया परतन्त्र, दुःखी ही है। जवानी, युवावस्था में—यदि पत्नी योग्य मिली तो दुःख और यदि अयोग्य मिली तो भी दुःख। योग्य पत्नी में आसक्ति और मोह दुःख के ही हेतु होते हैं, सुख की केवल भ्रांति है; और यदि स्त्री कर्कशा एवं क्रोधमुखी हो तो दुःख ही है। इसी प्रकार योग्य-पुत्र मोह और आसक्ति के कारण दुःख का हेतु; यद्यपि आशाओं की कल्पना में मनुष्य सुख का अनुभव

भ्रान्ति से करता है किन्तु वियोग होने पर वही दारुण दुःख देता है। और अयोग्य पुत्र का तो कहना ही क्या ! वह तो प्रिय-शत्रु होता है। उससे तो प्रतिक्षण दुःख का ही अनुभव होता है। यहीं नहीं, मृत्यु के पश्चात् भी पिता के नाम को कलंकित करता है। वृद्ध होने पर चारों ओर दुःख ही रहता है—इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, मनुष्य अपने बनाये बंधन से रेशम के कीड़े की भाँति स्वयं ही बँध जाता है।

"अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्।।"

आचार्य ने कहा है 'हे मूढ बुद्धि वाले ! तेरे हाथ पैर आदि अङ्ग गल गये हैं अर्थात् हाथ पैरों की खाल लटक गई है। हाथ काँप रहे हैं, पैर लड़खड़ाते हुये चलते हैं, आँखों में गड्ढे पड़ गये हैं, गाल बैठे हुये हैं, कानों से ऊँचा सुनाई देता है, पेट पीठ को लग रहा है, सिर, दाढ़ी, मूँछ आदि के तमाम बाल रूई के समान श्वेत हो रहे हैं। मुख दाँतों से रहित पोपला हो गया है अर्थात् मुख में एक भी दाँत नहीं रहा है। अब तू वृद्ध होकर काँपता हुआ लकड़ी टेक कर चलता है, चलते-चलते साँस भी फूल जाती है और बड़ा ही कष्ट भोग रहा है; तथापि तू सांसारिक आशाओं के पिण्ड को नहीं छोड़ता है ! एक क्षण भी शान्त होकर उस प्रभु का भजन नहीं करता। हे मूर्ख ! क्यों आप ही अपना शत्रु बन रहा है ? मृत्यु निकट है, अब तो निश्चिन्त मन से भगवान् का भजन कर ले।' ये अवस्थायें सर्वसुलभ हैं अतः विवेकी को किसी दुःख की इन्तज़ार नहीं करनी पड़ती, इन्हीं के विचार से वैराग्यवान् बन जाता है।

आसक्ति के अभाव में दुःख नहीं। विचार में दृढता पक जाने पर विषयों में आसक्ति नहीं रहती। विषयासक्त विद्वान् भी अपने स्तर से गिर जाता है। राजा दशरथ के पिता महाराज अज बड़े सत्संगी, विचारशील एवं न्याय-प्रिय थे; किन्तु स्त्री में आसक्ति थी। केवल एक दोष कभी सारे गुणों को ढक लेता है! वशिष्ठ जी ने

कई बार समझाया "विवाह संस्कार-भोग के लिये नहीं। गृहस्थ धर्म का नियमानुसार पालन करके संतानोत्पत्ति करना और आत्मोन्नति (आत्मोद्धार) के लिये यज्ञ इत्यादि करना ही 'विवाह संस्कार' का मुख्य उद्देश्य है क्योंकि अकेला पुरुष अथवा स्त्री यज्ञ नहीं कर सकते।"

एक समय महाराज अज अपनी रानी के साथ विहार कर रहे थे। तभी एक माला उनकी रानी इन्दुमती के गले में आकर गिरी और वह निष्प्राण हो धराशायी हो गयी। अज घबरा गया; उसने अपनी प्राण-प्रियतमा रानी को पृथ्वी पर मृत-अवस्था में देखा। चारों ओर हाहाकार मच गया। अज भी विलाप करने लगा और अन्त में घोषणा की कि "मैं भी अपनी प्रियतमा के साथ *सता* हो जाऊँगा।" लोगों ने समझाया; किन्तु उसको समझ नहीं रही। राग प्रबल होने पर विवेक ही नहीं रहता, फिर वैराग्य कहाँ ! दशरथ की आयु उस समय बारह वर्ष की थी। अन्त में लोगों ने गुरु वशिष्ठ को बुलाया। वशिष्ठ जी ने बयालीस दिन का अनुष्ठान किया था, अतः उन्होंने आने में असमर्थता प्रकट की और एक पत्र अपने शिष्य के द्वारा महाराज अज को भेजा जिसमें लिखा था—

'शरीर और शरीरी का सबसे निकटतम तथा प्रिय संबंध है। क्या उनका भी संबंध नित्य रह सकता है ? तो फिर स्त्री के वियोग में क्या आश्चर्य ? शरीर से भिन्न विषयों में इतना व्यग्र क्यों ? सारे संबंध शरीर से ही होते हैं। अनादि काल से न मालूम कितनी बार कौन किसका पिता, कौन किसकी स्त्री और कौन किसका पुत्र होता आया है। अतः तुझे शोक करना उचित नहीं।

लौकिक व्यवहार में भी यदि सौ रुपये देकर ब्याज सहित प्राप्त हो जायें तो संतोष रखा जाता है। तूने विवाह किया, गृहस्थोचित यज्ञयागादि धर्म किया, पुत्र पाया, पत्नी ने अपना उपयोग संपन्न कर दिया। तूने अपने जीवन में पुण्य ही किये हैं और उनके फलस्वरूप पुत्र एवं राज्य ऐश्वर्य में वृद्धि की है। इस विचार से भी

दुःखी होने का कारण नहीं।

जब हवा चलती है तो वृक्ष हिलते और टूट जाते हैं; किन्तु पर्वत अचल रहते हैं। तू मेरा शिष्य है; तुझमें और साधारण मनुष्य में क्या अन्तर है ? अरे ! ज़रा विचार तो कर। मेरी भी बदनामी होगी। अतः तेरे जैसे प्रतापी राजा को इस प्रकार शोक करना उचित नहीं।'

जब महाराज अज ने गुरु वशिष्ठ जी के पत्र को पढ़ा तो उनके ज्ञान चक्षु खुल गये और उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया।

अतः विचार का ही प्राधान्य है और उसीसे सन्मार्ग का निर्देश होता है। अकेला दुःख तो सामान्य विवेकी को भी अविवेकी बना डालता है जैसा अज-प्रसंग में देखा। इसलिये दुःख से तपे मन पर विचार की चोट पड़े तभी चित्त का वह आकार बन पाता है जो तलवार की तरह सारे राग बंधन काटता रह सकता है। इसलिये आचार्य शंकर ने परिभाषा बना दी--

'तद् वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शन-श्रवणादिभिः।
देहादि-ब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोग्यवस्तुनि।।'

शरीर से ब्रह्मलोक तक के सभी शब्द-स्पर्श आदि के प्रति जुगुप्सा, घृणा, वे संपर्क के लायक हैं ही नहीं यह दृढ भावना वैराग्य है जो मोक्षमार्ग पर चलने वाले के लिये जरूरी है।

३. षट् सम्पत्ति

षट् सम्पत्ति में प्रथम साधन (क) शम है।

''विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते।।''

(विवेक-चूडामणि)

'बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषय-समूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही 'शम' है।' शरीर अङ्गी है तो

शरीर की रक्षा के लिये अङ्ग कटवा देते हो। ऐसा कभी नहीं करते कि हाथ की रक्षा के लिये शरीर कटवा दो! अङ्ग अङ्गी के लिये हैं। वस्तुतः सभी कुछ आत्मा के लिये है। अतः अन्य सब कार्य छोड़कर आत्मलाभ के लिये यत्न करना ही ठीक है। उस यत्न-परंपरा में नेता शम होता है। आत्मा के लिये साधना में शम अङ्गी और दमादि अङ्ग हैं। मन में वृत्तियाँ बनती रहती हैं, परमात्माकार वृत्ति ही स्थिर रहने लगे तब शम प्राप्त होता है। घट देखते हैं तो घटाकार वृत्ति बनती है, ऐसे ही सर्वत्र सच्चिदानंद दीखे तो उसी आकार की वृत्ति रहेगी। इसका अभ्यास शम में ज़रूरी है। विषयों के नाम-रूप में मन उलझता रहा तो कभी शांत नहीं होगा।

दूसरी आवश्यकता है कि मन अपने लक्ष्य में स्थिर रहे। जो काम लगातार करते हो उसमें मन रम जाता है पर कभी उसीसे उचाट भी हो जाता है। शमाभ्यासी धीरे-धीरे परमात्मा के आकार की ही वृत्ति बनाना बढ़ाता रहे और सत्संग से उसमें अपनी रुचि बढ़ाता रहे तभी शम सिद्ध होगा। तीसरी बात है कि लक्ष्य स्थिर रखना पड़ेगा; कभी कुछ, कभी कुछ और—यों लक्ष्य अस्थिर होने पर भी शम प्राप्त नहीं हो सकता।

मन को टिकाना किसी आकार में ही पड़ेगा। प्रारंभ में तो रूप या नाम जैसा स्थूल आलंबन ही आवश्यक है, बाद में तत्तत् ज्ञान भी (जैसे व्यापक, चेतन, आनंद आदि) आकार बने रह सकते हैं। शमाभ्यासी भगवान् पर चित्त एकाग्र करे। जिज्ञासु का शम मध्यम ही रहेगा, उत्तम शम वाला तो ज्ञानी ही हो सकता है।

जब मन अपने समस्त अनात्माकारों को छोड़ दे, तभी लक्ष्य में स्थिर रह सकता है। अभी तक मन भिन्न-भिन्न आकारों में भ्रमण करता था। वह शून्याकार में जावे यह भी ठीक नहीं क्योंकि तब वह समाधिस्थ नहीं। यदि 'कुछ नहीं' की अर्थात् शून्याकार वृत्ति हो तो ऐसी परिस्थिति में वहाँ से मन को हटा देना चाहिये। अभावाकार वृत्ति से सद्रूपता का लाभ नहीं हो सकता है। पूर्णता

की वृत्ति ही अनन्त और ज्ञान-स्वरूप की प्राप्ति का उपाय है। अतः शम तब सिद्ध हो जब मन सारे विकारों को छोड़कर केवल ब्रह्म को ही सब कुछ समझे। संसार की सब चीज़ें क्षणिक हैं। जो अपना स्वरूप नहीं बदलता वही परमेश्वर है। तालाब आदि के जल की जगह परमेश्वर और लहरों की जगह नाम-रूप-कर्म हैं। लहरें जल से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं हैं, लहर छुओ तो हाथ में जल ही आता है। इसी तरह संसार में जो कुछ अनुभव करते हो वह है अनुभव परमेश्वर का ही किन्तु जब तक यह ध्यान न रहे तब तक सब चीज़ें अलग-अलग समझकर विभिन्न आकारों में मन भटकता रहता है। शम तब सिद्ध होगा जब इस तथ्य पर दृढ रहोगे कि चाहे जो नाम-रूप-कर्म सामने आ रहा है, वास्तव में है परमात्मा ही। क्योंकि तब नामादि की विभिन्न वृत्तियों में नहीं उलझेगा इसलिये सिर्फ परमात्माकार बना रह सकने से मन शांत होगा, शम की प्राप्ति होगी। भगवान् राम का चित्र है; उसे कागज़, रंग, हाथ-पैर आदि के अंकन आदि विभिन्न आकारों में भी ग्रहण कर सकते हो और इन सबकी उपेक्षा कर 'भगवान्' इस एक रूप से भी ग्रहण कर सकते हो। उसी प्रकार आत्मा सब विषयों की निवृत्ति होने पर अभिन्न दिखलाई देता है। ऐसी स्थिति में मन स्थिर रह सके तब साधक को अनन्त-आनन्द, भूमा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त होती है।

उत्तम शम यह है कि मन ब्रह्मरूप से स्थिर हो जावे, अहंकार की वृत्ति न बना करे। प्रवाह की भाँति अखंड निरंतर परमात्मा के आकार की वृत्ति बनाना उत्तम शम है। मध्यम शम जिज्ञासु साधक का है कि प्रयासपूर्वक अपने इष्ट के चिन्तन में ज़्यादा-ज़्यादा लगे। विषयाकार चित्त बने तो विषय छोड़कर वहाँ जो सच्चिदानंद है उसी पर चित्त को स्थिर करे। जब तक कोशिश करनी पड़े तब तक मध्यम और जब स्वाभाविक हो जाये तब वही उत्तम शम हो जाता है। शमाभ्यासी को परमात्मविषयक श्रवण, विचार, कीर्तन आदि में अधिकाधिक संलग्न रहना चाहिये ताकि तदाकार वृत्ति

बनती रहे।

सत्संग-श्रवणादि के लिये भी मन पर नियंत्रण चाहिये। थर्मामीटर टूट जाये, पारा बिखर जाये तो उसे इकट्ठा करना अतिदुष्कर होता है। उसी तरह विषयों में बिखर गया तो फिर मन को एकाग्र करना बहुत कठिन होता है अतः आवश्यक से अतिरिक्त विषयों के ज्ञान, चिंतन आदि में मन को जाने ही नहीं देना चाहिये। एक कपड़े का व्यापारी कहीं सत्संग सुनने बैठा था। अचानक प्रवक्ता ने देखा कि उनका साफा उस सेठ ने फाड़ दिया ! लाला जी से पूछा तो बोले 'जी, मुझे नींद आ गयी, सपने में ग्राहक ने छह गज कपड़ा माँगा तो आदतन मेरा हाथ सामने की ओर गया, वहाँ आपका साफा पड़ा था, वही मैंने फाड़ दिया, माफ़ कीजिये !' विचार करो, यदि मन पर नियंत्रण नहीं रखा तो सत्संग भी नहीं सुन पाओगे; हाथ से न सही, मन से कपड़े फाड़ते रहोगे ! अध्यात्म- मार्ग पर चलने में साधना ज़रूरी है। प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर जप-ध्यान अवश्य करे, वह चित्त स्थिर करने का सर्वोचित समय और साधन है।

शम प्रधान साधन है, इसका मन से मुख्य संबंध है। मन है बहुत बलवान, इसी के सहारे कोई भी कार्य संपन्न हो पाता है। मन जिसमें सोत्साह न संलग्न हो वह कार्य संभव नहीं रहता, कहते भी हैं 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत', और जीव भी यदि मन द्वारा हरा दिया गया तो सर्वत्र पराजित ही रहेगा तथा अगर उसने मन पर जीत हासिल कर ली तो सर्वत्र विजयी ही रहेगा ! मन को दृश्य-पदार्थों में लगाओ तो उधर उन्नति करता जाता है। आज चंद्रमा तक जाने के यंत्र बन गये हैं क्योंकि लोगों ने उसी दिशा में मन लगाया। यदि मन परमार्थ की ओर लगा दोगे तो पारमार्थिक ज्ञान हो जायेगा। खेल सारा मन का ही है। साधना के क्रम में विवेक-वैराग्य ये प्रारंभ के कदम हैं, इनके बाद शम की योग्यता आती है। बिना विवेक-वैराग्य के शमादि का अभ्यास

संभव नहीं। इसीलिये वायु पकड़ने जैसा अतिकठिन जो चंचल मन का नियंत्रण उसके लिये भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य को ही साधन बताया है। इसी प्रयोजन से शास्त्रों में ब्रह्मचर्य का इतना माहात्म्य कहा है।

ख. **दम**—षट् सम्पत्ति में द्वितीय साधन दम अर्थात् इन्द्रिय-नियन्त्रण है। इन्द्रियनिग्रह का नाम दम है, ब्रह्मचर्यादि द्वारा इन्द्रियों को दमन करना ही दम है। यह किस प्रकार संभव हो सके ? केवल आँख बंद कर लेना ही इन्द्रिय वश में कर लेना नहीं ! अंधेरा भी तब तक दिखाई नहीं दे सकता जब तक आँख नहीं। यदि कोई आँख पर पट्टी बाँध दे, तो अंधेरा या उजाला दिखाई नहीं दे सकता। रात्रि के समय मनुष्य देखकर कहता है, 'आज घना अंधकार है।' ठीक इसी प्रकार कान बंद करने पर अंदर की आवाज़ सुनाई पड़ेगी। उस आवाज को सुनने वाली भी कर्णेन्द्रिय है। बिना आवाज़ सुने कर्णेन्द्रिय कैसे रह सकती है ! इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक कार्यों से हटने वाली नहीं हैं।

इन्द्रियों के नियंत्रण के लिये धारणा का अभ्यास करना पड़ता है। आचार्यों ने दम का रूप बताया

'विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषाम् इन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः।।'

कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों में संलग्न न होने देकर उन्हें उनके गोलकों में ही रोके रखना दम है। इसके लिये मन की धारणा उपाय है। किसी देश, स्थान में चित्त टिका देने को धारणा कहते हैं। एक-एक इन्द्रिय पर मन को स्थिर करो, विषय की ओर न जाने देकर इन्द्रिय पर ही उसे एकाग्र करो। बिना इन्द्रिय गये मन विषयों तक नहीं पहुँचता और बिना मन गये इन्द्रिय भी विषय ग्रहण नहीं करती। शम से मन नियंत्रित हो चुकने से अब जब उसे केवल इन्द्रिय तक ही जाने देंगे, बाहर विषयों तक नहीं, तब इन्द्रियाँ भी अपने गोलकों तक सीमित रहेंगी, बाह्य विषयों में नहीं

भटकेंगी। एक-एक इन्द्रिय का इस प्रकार दमन करे, यह साधक का कर्त्तव्य है।

ग. **उपरति**—षट्संपत्ति में तीसरा साधन है उपरति। घरों में एक कमरा अपने-आप फालतू सामान का कोठार बन जाता है। धीरे-धीरे बहुत-सी बेकार की चीज़ें वहाँ भर जाती हैं। उसमें ताला लगा दो तो और सामान उसमें जाना रुक जाता है पर इतने मात्र से वह कमरा खाली नहीं हो जाता, खाली करना पड़ता है। हमारा चित्त भी अनादि काल से निरर्थक तुच्छ कुसंस्कारों से भरा पड़ा है। अगर हम नये विषय-संस्कार उसमें डालना रोक दें तो वह दम है। पर इतने मात्र से चित्त शुद्ध नहीं हो जायेगा। डाक के बक्से (letter box) में चिट्ठी डाल तो चाहे कोई सकता है पर निकाल केवल अधिकारी सकता है। इसी प्रकार विवेक-वैराग्य-शम- दम से युक्त अधिकारी ही मन में इकट्ठे हुए संस्कारों को निकाल सकता है। मन से ऐसे अनात्म-संस्कार हटा देने का नाम है—उपरति। आचार्य शंकर ने बताया है—

'बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा।'

उत्तम उपरति यही है कि वृत्ति अनात्मा पर न टिके। बाह्य संपर्क बंद होने पर भी संस्कारवश जो अनात्मचिंतन होता रहता है उसे रोकना और उसके कारणभूत संस्कार क्षीण कर देना उपरति है। क्षीण करने का उपाय है कि पूर्वदृष्ट के नाम-रूप की उपेक्षा कर केवल सच्चिदानंद स्वरूप पर ध्यान देना। उपरति अपनायें कैसे ? भोगों में दोष, दुःख देखने से उपरति संभव है।

'विषम-विषय-मार्गैः गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि।
हित-सुजन-गुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि।।'

विषयरूप विषम (ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर चलने वाले मलिनमति प्राणी को याद रखना चाहिये कि पग-पग पर मृत्यु है, प्रत्येक

विषयभोग मृत्यु है। हितैषी सत्पुरुष सद्गुरु के कथनानुसार और विवेक प्रयोग से जीवन बिताये तो जीव अवश्य सुफल पा जाता है। अगर विषय के दोषों पर, दुःखजनकत्व पर ही ध्यान दो तब धीरे-धीरे मन विषयों में रमण छोड़ेगा और गुरुवचनों से समझे परमेश्वर के चरणों में रमेगा।

केवल शास्त्र पढ लेने से साधन संपत्ति नहीं आ जायेगी ! इसके लिये पहली आवश्यकता प्रभुकृपा की है। विषय-सेवन मन-बुद्धि को कमज़ोर करता है। इंद्रियों के अधिष्टाता, स्वामी देवताओं की सेवा से तेज बढ़ता है, अतः विषयसेवा की जगह देवसेवा करनी चाहिये। जैसे सिपाही हाथ के इशारे से सड़क पर सारी गाड़ियाँ केवल इसलिये रोक पाता है कि राज्य की तरफ से उसे शक्ति प्राप्त है वैसे ही परमेश्वर का कार्य करने के लिये उन्हीं से अधिकार पाकर देवता भी सक्षम होते हैं अतः जिस तरह अफसर से मिलने के लिये सचिव को माध्यम बनाना पड़ता है वैसे परमेश्वर तक पहुँचने के लिये देवताओं को प्रसन्न करना चाहिये। दूसरी आवश्यकता है निष्काम कर्म करने की; प्रभु-विधान समझकर अपने कर्तव्य उनकी खुशी के लिये करो, उन कर्मों से खुद फल पाने के लिये मत करो। इससे हर कार्य करते हुए भगवान् का चिन्तन स्वयं होता रहेगा। क्योंकि फलों के लिये कर्म नहीं करोगे इसलिये जो कर्मफल नहीं है, जो प्रभु के पास सबसे बड़ा धन है, वही वे तुम्हें अपनी कृपा से प्रदान कर देंगे—मोक्ष। तीसरी ज़रूरत गुरुकृपा की है। सद्गुरु के बिना साधक को योग्य मार्ग पता नहीं चल सकता। अपना दोष स्वयं को नहीं दीखता, उसे पता लगाकर दूर करने के लिये गुरु चाहिये, उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना चाहिये तब साधन-लाभ संभव है।

योग्य वैद्य रोग-निवारण के लिये निदान, दवा, कुपथ्य का त्याग, पथ्य का सेवन करने का ही निर्देश देता है। इसी प्रकार सद्गुरु भी अधिकारी शिष्य को मार्ग-प्रदर्शन करता है, अपने

तत्त्व-दर्शन द्वारा साहस उत्पन्न करता है, दोषों का निवारण करता है, युक्ति बतलाता है, तत्त्व को अनुभवगम्य कराता है। तब फल होता है शान्ति की प्राप्ति, दुःख की निवृत्ति। केवल दुःख-निवृत्ति ही साधक का लक्ष्य नहीं। जब तक उसे आनन्द की उपलब्धि नहीं तब तक कार्यसिद्धि नहीं।

घ. **तितिक्षा**—षट् सम्पत्ति में चतुर्थ साधन तितिक्षा है। ब्रह्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करने से पूर्व विधिवत् साधन-चतुष्टय सम्पत्ति को प्राप्त करना आवश्यक है। विवेक के अश्व पर चढ़कर और तितिक्षा का बख़्तर पहन कर युद्ध में सफलता की आशा संभव है। बाहर से आने वाली विपत्तियों को सहन कर लेना तितिक्षा है—

'सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।।'

'चिन्ता और शोक से रहित होकर, बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों को सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है।'

जिसके पास 'तितिक्षा' नहीं है वह ब्रह्मज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है ? और तो और, साधारण कर्म भी नहीं कर सकता है। सांसारिक सफलता भी 'तितिक्षा' पर निर्भर है फिर पारमार्थिक सफलता तो और भी कठिन है। सहन करो ! सहन करो ! सहन करो ! —तीन बार कहते हैं पुष्टि के लिये, इसीलिये हमारी वर्णमाला में तीन सकार (स, श, ष) सहन करने के द्योतक हैं।

कष्ट को सहन करना उन्नतिशीलता है क्योंकि परिश्रम करने से स्वास्थ्य अच्छा होता है। इसी प्रकार अपमान को सहन करने की क्षमता से मानस पुष्टि आ जाती है। संन्यासी का इसी कारण भिक्षा माँगना उचित ठहराया गया है, उसमें कहीं गाली, कहीं पूजा, कहीं सम्मान और कहीं अपमान सहन करना पड़ता है। इस प्रकार दुःख सहने के अनुभव से मन की तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती है। तितिक्षा न होने पर थोड़ा-सा कष्ट होने पर आदमी घबरा जाता है

और तितिक्षा का अभ्यास करने वाला कठिन परिस्थिति में भी अपने शरीर के नियम को भंग नहीं करता और अपने धर्म का पालन करता है। इसी का नाम तितिक्षा है।

शारीरिक कष्ट से मानसिक कष्ट की उत्पत्ति होती है अर्थात् शरीर को कष्ट देने पर मन को भी कष्ट होता है। जो मनुष्य स्नान करने से डरता है, वह कभी भगवान् को प्रात करने में सफल नहीं हो सकता ! यदि देहाध्यास को रखकर शरीर को पुष्ट करके भगवत्-प्राप्ति के लिये उपाय करें तो—

'शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति।।'

जैसे लाश को लकड़ी समझकर उसके सहारे नदी पार नहीं कर सकते, ऐसे शरीर के पोषण को जीवनप्रयोजन बनाये रखकर आत्मदर्शन नहीं प्राप्त कर सकते।

शरीर व्याधि का मंदिर है। एक रोग की औषधि करो तो दूसरा रोग दबा लेता है। अतः शरीर-सेवा में न लगकर साधना में लगना चाहिये। जो अपने मन से कष्ट बुलाया जाता है वह तितिक्षा नहीं वरन् साधनतत्पर होने पर स्वयं आने वाले कष्ट सहना तितिक्षा है। जितनी तितिक्षा दृढ होगी उतनी ही शम दमादि की पुष्टि हो जावेगी। अतः शीतोष्णादि को सहन करने की क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है। भगवान् ने भी बताया कि व्यवहार में सर्दी-गर्मी आदि दुःख आते ही रहेंगे अतः उन्हें सहने की आदत डाल लो। संसार के सुख-दुःख के साथ उदासीन भाव रखने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। लौकिक भाव में भी मनुष्य जब समझता है 'शरीर रहे या जावे' तभी उसका संकल्प दृढ हो जाता है और तितिक्षा की सिद्धि हो जाती है।

ङ. **समाधान**—शमादिषट् में पाँचवाँ है समाधान। समाधान का स्वरूप है श्रुति में जिस परमेश्वर का वर्णन है उसमें *डुबकी* लगाना, डुबकी लगाने से डरना नहीं। वह ऐसा समुद्र नहीं जिसमें डुबकी

लगाने से मृत्यु हो जावे किन्तु वस्तुतः इस समुद्र में मरा हुआ भी जीवित हो जाता है। जो मनुष्य अपनी रक्षा न कर सके वह मरा हुआ है। मनुष्य विषय और इन्द्रियों के चक्कर में पड़ा रहता है, यही मरे हुए का लक्षण है। इस प्रकार परमतत्त्व में अवगाहन करने पर वह मरता नहीं। समाधान द्वारा परब्रह्म का चिन्तन करे जिसके लिये चाहिये कि मन एकाग्र रहे, किन्तु मन ऐसा चञ्चल है कि यह खाली रह नहीं सकता।

वस्तुतः बहुत कम लोग परमेश्वर को चाहते हैं, लेकिन अधिकांशतः लोग ऐश्वर्य को चाहते हैं। महात्माओं से भी लोग इसी प्रकार की इच्छा करते हैं। अच्छा महात्मा ईश्वर को ही प्राप्त करा सकता है, सिद्धि नहीं दे सकता। मनुष्य को ठीक रास्ते पर लाने के लिये ही संत सिद्धि का प्रयोग करते हैं। किसी व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त करने की बड़ी इच्छा थी। एक महात्मा से उनको मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने उनसे सिद्धि प्राप्त करने के लिये अनुरोध किया। महात्मा जी ने समझाया कि सिद्धि से कोई लाभ नहीं अपितु हानि की आशंका है पर भक्त ने हठ किया तो महात्मा जी ने अपने प्रयोग द्वारा एक भूत को प्रकट किया, जिसमें यह विशेष बात थी कि उससे जिस कार्य को करने के लिये आदेश दो, शीघ्र ही सम्पन्न करके ला देता था; किन्तु खाली नहीं रह सकता था। भक्त को यह बात समझाकर उसे भूत दे दिया। पहले तो भक्त खुशी-खुशी उससे काम कराता रहा, महल बनवा लिये, उसमें धन-धान्य भरवा लिया, और भी सब संपन्न करा लिया। किन्तु काम भी कहाँ तक बताता ! भक्त को तो वह सोने भी नहीं देता था, जगा कर काम पूछता था। अन्त में वह व्यक्ति उस भूत से तंग आ गया। वह लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करने लगा। भक्त फिर महात्मा के पास दौड़ा गया, बोला 'महाराज ! कोई उपाय बतलाइये यह तो खाली रहने पर बड़ा अनिष्ट करता है।' महात्मा जी ने कहा 'मैंने पहले ही कहा था कि सिद्धि से तुम्हें

कुछ लाभ नहीं होगा।' भक्त ने बहुत अनुनय-विनय की तो संत को दया आ गयी, उपाय बताया 'एक दण्डा गाड़ दो और इसे कहो उस पर चढ़ता-उतरता रहे ! जब इसकी यह क्रिया निरंतर जारी रहेगी तो यह स्वयं ही नियंत्रण में आ जावेगा और फिर किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं रहेगी।' तत्पश्चात् उस व्यक्ति ने महात्मा जी के निर्देश के अनुसार ही उस भूत को अपने नियंत्रण में कर लिया। जब उस कार्य में लगाया तो कुछ समय में वह भूत घबरा गया और खुद ही छुट्टी माँगने लगा।

ठीक इसी प्रकार मन भी भूत है। यदि इसे कोई कार्य नहीं है तो यह विषयों की ओर जायेगा। अतः इसे बार-बार शिव चिंतन करने को कहो। लगातार एकाग्रता से ध्यान करता रहेगा तो मन स्वयमेव विषयों में जाने से रुक जायेगा। जब मन की निवृत्ति हो जावे तब उत्तम समाधान की प्राप्ति हो जाती है। मन को छूट देने पर फिर संसार में लीन हो जावेगा। शमादि के अभ्यास के साथ समाधान की आवश्यकता है। बारम्बार पुण्यादि में लगाने से शुद्धि द्वारा विवेक-बुद्धि आने पर साधक सद्गुरु की शरण लेगा तब वे जो ज्ञान ग्रहण करायेंगे उसी से परम शांति आ सकती है। समाधान के साधक को चाहिये कि मन को कभी खाली न छोड़े, हमेशा सच्चिन्तन में लगाये रखे, यही समाधान बताया है

'सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत् समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्।।'

मन बहलाना समाधान नहीं ! वरन् सब प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में चित्त को हमेशा स्थापित रखना समाधान है। चाहे जो सोचता रहे, भले ही एकाग्रता से सोचे, उसे समाधान मत समझो। विषय-चिन्तन में भी ध्यान आवश्यक रहता है, डाक्टर भी एकाग्रता से शल्य करता है, पर वह *समाधान* नहीं। सम-नाम ब्रह्म में चित्त को आहित करोगे तभी समाधान होगा।

च. **श्रद्धा**—श्रद्धा सब साधनों का साधन है। न इसके बिना

किसी साधन का अनुष्ठान हो सकता है, न वस्तु की प्राप्ति। इसका स्वरूप बताया है

'शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते।।'

शास्त्र और गुरुवाक्यों में सत्य-बुद्धि करना सज्जन संमत श्रद्धा है जिससे सत्य वस्तु मिलती है। अंधविश्वास, विश्वास और श्रद्धा तीनों अलग भाव हैं। बिना किसी प्रमाण के मान लेना अन्ध-विश्वास है। आजकल ज़्यादातर लोग अंधविश्वासी हैं, प्रमाण खोजने का पुरुषार्थ ही नहीं करते। किसी अंग्रेज़ ने लिख दिया, विदेशी पुस्तक में छप गया, प्रसिद्ध प्रकाशक की किताब में आ गया तो बिना किसी जाँच पड़ताल के सही मान लेते हैं। अखबारों में अस्सी प्रतिशत खबरें ग़लत या अर्धसत्य होती हैं यह स्थानीय खबरों को पढ़कर पता चलने पर भी अखबार में छप गया तो सत्य है—यह मानना अंधविश्वास है। विज्ञान के नाम पर भी ऐसी ही अनेक अटकलें पत्र-पत्रिकाओं में आती हैं जिन्हें लोग मानते रहते हैं क्योंकि अंधविश्वासी हैं। धर्म कभी अंधविश्वास को प्रश्रय नहीं देता, प्रमाणानुसार समझकर स्वीकारने के लिये कहता है। अविचार से मानना अंधविश्वास है।

लौकिक विषयों में प्रमाणानुसार मानने का नाम विश्वास है। 'एक दाम' की पट्टी लगी हो तो दुकान के भावों पर विश्वास करते हो पर तभी तक जब तक प्रमाणित न हो जाये कि वहाँ महँगा बेचते हैं। प्रमाणित हो जाने पर विश्वास उठ जाता है। विश्वास औत्सर्गिक होता है, विरोधी प्रमाण या किसी हेतु से हट जाता है। व्यवहार में हर बात पर विश्वास के लिये प्रमाण नहीं खोजते लेकिन सावधान रहते हो, चार जनों से पूछते हो, सोच-विचार कर मान लेते हो और विपरीत प्रमाण मिलने पर त्याग देते हो।

अलौकिक, अतींद्रिय बातों पर युक्तिपूर्ण प्रमाणानुसंधान से जो आदरपूर्ण स्वीकृति मन में आती है वह श्रद्धा है। साधारण बुद्धि से

न समझ आने वाली बातों में जैसे डाक्टर, इंजीनियर, वकील प्रमाण होते हैं वैसे धर्म में शास्त्र प्रमाण है। अतः शास्त्र का अनुसंधान करने से श्रद्धा होगी। लाभदायक वस्तु को ग्रहण करना युक्ति कही जाती है। तर्क यदि युक्तिपूर्वक न पढ़ा तो उसमें वे ही स्थल देखोगे जिन पर अनर्गल कटाक्षादि कर सको ! उन विषयों को भी ससंदर्भ समझो तो आक्षेप को कोई स्थान नहीं है पर युक्ति से न पढ़ने पर ग़लत बातें ही समझ आती हैं।

प्रतिपाद्य वास्तविक अर्थ युक्ति से ही ग्रहण किया जा सकता है। कई बार तो जान-बूझकर लोग तर्क-कुतर्क या छल के भी बल से अर्थ की जगह अनर्थ प्रकट करते हैं। ईसाई पादरी 'सरसमीप गिरिजा गृह सोहा' इस मानसपंक्ति से सिद्ध करते हैं कि सीता जी गिरजाघर जाती थीं ! ऐसे ही सनातन धर्म के सिद्धान्तों को ऊट-पटांग ढंग से बताकर सामान्य जनता को मूर्ख बनाते हैं। कहेंगे कि पापियों के उद्धार का हिन्दू धर्म में उपाय नहीं क्योंकि गीता में कहा है कि पापियों को लगातार आसुरी योनियों में भेजा जाता है ! और अपनी बात में भी गीता का प्रमाण देंगे कि ईसा की शरण लो तो वह सब पापों से छुड़ा देगा क्योंकि गीता में कहा है 'मामेकं शरणं व्रज, सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।' ये सब धूर्ततायें हैं पर अविचारशील ऐसा करते भी हैं, इनमें फँसते भी हैं।

सनातन धर्म में कोई ऐसी बात नहीं जो युक्तिपूर्वक न हो। जो विचार से ठीक समझ आये वही करो। प्रमाण-युक्ति के विचार से निश्चित बात को हृदय में आदर दो—यह श्रद्धा है। बिना श्रद्धा के केवल विचार से बातें जीवन में नहीं उतर पातीं। अश्रद्धा से मारे हुए लोग संसार सागर में डूबते रहते हैं। ब्रह्माप्ति के मार्ग पर कदम उठाने के लिये श्रद्धा का बल चाहिये। श्रद्धारहित तो कर्म-उपासना भी तामस है। श्रद्धा से करें तभी सत्फल होता है, सामान्य से अधिक फल मिलता है। भगवान् ने भी परम शान्ति पाने के लिये पहली आवश्यकता श्रद्धा की बतायी

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति।।'

श्रद्धासंपन्न साधक ही शम-दमपूर्वक तत्पर होकर जब ज्ञान पाये तभी परम शांति मिलेगी। इसलिये यद्यपि इसे गिनते शमादि के अंत में हैं तथापि है यह प्राथमिक ज़रूरत क्योंकि इसी से व्यक्ति साधना के प्रति ईमानदार हो सकता है।

४. मुमुक्षा

साधन-चतुष्टय में अंतिम है मुमुक्षा—

'अहङ्कारादिदेहान्तान् बन्धान् अज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता।।'

अहंकार से शरीर तक की उपाधियाँ बंधन हैं, ये जीव से ऐसे कर्म कराते हैं कि वह नाना क्लेश भोगता रहता है। देह से आगे के बंधन तो देहद्वारक होने से गौण हैं, प्रधान देहपर्यन्त बंधन हैं। ये सभी स्वरूपतः आत्मस्वरूप के अज्ञान से कल्पित हैं और उसी अज्ञान से ये आत्मसम्बद्ध समझे जाते हैं। आत्मा की वास्तविकता के प्रामाणिक निःसंशय अनुभव से इन बंधनों से सर्वथा छूट जाने की, इन उपाधियों में अहन्ता-ममता छोड़ने की तीव्र अभिलाषा मुमुक्षा है। इसे अन्य साधनों का मूल माना गया है, तीव्र इच्छा होने पर ही उसकी पूर्ति के लिये पूर्ण प्रयत्न होता है।

'साधनानान्तु सर्वेषाम् मुमुक्षा मूलकारणम्।'

बहुत-से आचार्यों ने साधन-चतुष्टय को मुमुक्षा के अन्तर्गत ही रखा है। जिसको मोक्ष की इच्छा होगी, वह साधना की ओर ध्यान देगा। किसी-किसी आचार्य ने वैराग्य को ही साधन चतुष्टय का मूल कारण बतलाया है—''वैराग्यं मूलकारणं'' किन्तु वैराग्य होने पर भी 'मुमुक्षा' न होने पर मोक्ष की प्राप्ति नहीं। अमुक सिद्धि की प्राप्ति हो जाना ही लोग मोक्ष समझ बैठते हैं। इस प्रकार की धारणा गलत है। बिना वैराग्य के मुमुक्षा भी फलदायक नहीं होती

है। अतः मूल मुमुक्षा है और वैराग्य अनिवार्य सहायक है।

मुमुक्षा के भेद इसकी तीव्रता के अनुसार हो जाते हैं। बिना प्रयास किये ही मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। भगवत्-दर्शन के लिये योग्यता प्राप्त करने की नितान्त आवश्यकता है अतः शास्त्र-अध्ययन, धारणा, ध्यान, भक्ति आदि साधक के लिये आवश्यक हैं। मंदमति की अतिमंद मुमुक्षा साधना में प्रेरित नहीं करती, इतना ही भाव रहता है कि अन्य कार्य करते हुए यदि मोक्ष भी मिल जाये तो अच्छा है।

'मुक्ति अर्थात् मोक्ष तो प्राप्त करना ही है। अभी बहुत समय पड़ा हुआ है। इस विषय में शीघ्रता की क्या आवश्यकता है। पहले भोग भोग लें।' यह मंद मुमुक्षा है जो साधना को टालती है, सर्वथा रोकती नहीं।

जब मनुष्य संसार के दुःखों से घबराने पर तीनों तापों को देखता है तो उसके हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। किन्तु जब स्त्री पुत्रादि को देखता है तो फिर संसार की ओर मुड़ जाता है। इस प्रकार उसका मन दोनों ओर लुढ़कता है—यही मध्यम मुमुक्षा है।

ऐसे मनुष्य को अधिक काल नहीं लगता वरन दो तीन जन्मों में ही अपने संस्कारों द्वारा मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति हो जाती है।

जो मनुष्य तीनों तापों को नित्य अनुभव करता है अर्थात् देखता है और समझ लेता है कि संसार दुःख का ही स्थान है, अनेक प्रकार से उसे क्लेश का स्वतः अनुभव होता है। उसका मन सदैव दुःखी रहता है। वह सारी वस्तुओं को अनर्थ समझकर परित्याग कर देता है और केवल परमेश्वर को ही सब कुछ समझता है, उसकी तीव्रतर मुमुक्षा कही जाती है। ऐसा पुरुष इसी जन्म में जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर लेता है।

मुमुक्षा का उपाय है कि दिन भर में जितनी बार हो सके मृत्यु का चिन्तन करे। इससे शीघ्र ही मुमुक्षा की प्राप्ति हो सकती है।

'ॐ नमः शिवाय' पञ्चाक्षरी मन्त्र का जप करने से भी कालान्तर के पश्चात् मुमुक्षा की प्राप्ति होती है।

सद्‌गुरु

बिना गुरु के ज्ञान संभव नहीं। शास्त्रों में यह विधि भी कही गयी है कि गुरु से ही ब्रह्मज्ञान ग्रहण करे तथा आख्यायिकाओं से भी यही स्पष्ट किया है। जैसे नारद के समान विद्वान् भी ब्रह्मज्ञानार्थ सनत्कुमार की शरण गया; अतः अन्यों को जाना पड़े इसमें क्या कहना ! लौकिक गुरु और ब्रह्मविद्या के गुरु में भेद है। अंधकार के अन्दर जो प्रकाश कर दे वही गुरु है। शिक्षा गुरु, दीक्षा गुरु— अनेकानेक विषयों के गुरु आदि गुरुजनों के विभेद बतलाये गये हैं। लौकिक ज्ञान को देने वाले 'शिक्षा गुरु' कहलाते हैं। परमात्मा के सगुण रूप को बतलाने वाले 'दीक्षागुरु' कहलाते हैं। और जो निर्गुण ब्रह्मविद्या की शिक्षा दे उसे ब्रह्मविद्या का गुरु कहते हैं। कभी शिक्षा गुरु ही ब्रह्मविद्या का गुरु भी हो सकता है। गुरु बनना योग्यता पर निर्भर है।

देवर्षि नारद ने शिक्षा और दीक्षा प्राप्त कर ली थी। अतः ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिये उन्होंने ब्रह्मऋषि भगवान् सनत्कुमार को चुना। ऐसे तो गुरु बहुत-से होते हैं जो शिष्य के धन का अपहरण करते हैं ! किन्तु ऐसे बहुत कम गुरु हैं, जो शिष्य को यथार्थ ज्ञान देकर उसके संताप को हरते हैं। अतः गुरु की योग्यता की परीक्षा कर लेना आवश्यक है। संप्रदाय परम्परा से जिसने साक्षात्कार पाया है वही श्रेष्ठ गुरु हो सकता है। केवल पुस्तक-ज्ञानी के भरोसे तत्त्व नहीं समझ सकते। लोक में भी जिसने कभी ऊँट नहीं देखा, केवल पढ़ रखा है कि 'रेगिस्तान में ऊँट उड़ता है', वह ऊँट का अर्थ यही बतायेगा कि कोई पक्षी होता है ! आत्मा-अनात्मा इतने घुले-मिले हैं कि जिसने सही साक्षात्कार प्राप्त नहीं कर लिया वह शिष्य को आत्मा का ठीक स्वरूप बता ही नहीं सकता। बहुत-से

शास्त्र पढ़ा हुआ हो इसकी ज़रूरत नहीं, आत्मशास्त्र का जानकार और आत्मा का प्रत्यक्ष किये हो यही जरूरी है।

गुरु के पढ़ाये शिष्य कैसे निकले हैं ? —यदि अच्छे निकले हैं तो गुरु योग्य है। यह गुरु खोजने की साधारण प्रक्रिया सर्वत्र प्रचलित है। किन्तु आवश्यकता है कि गुरु स्वयं ज्ञान को प्राप्त किया हुआ हो अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हो। जिसके पास जो वस्तु नहीं है वह दूसरे को क्या दे सकता है ! दूसरी पता लगाने की बात है कि गुरु स्वयं *सम्प्रदाय परम्परा* से ज्ञान प्राप्त किये हुये हो। सारे शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी सम्प्रदाय परम्परा के ज्ञान के बिना मूर्ख ही कहा जाता है। अच्छी तरह विस्तार के साथ यों समझाने को सम्प्रदाय कहते हैं कि अधिकारी के अतिरिक्त और कोई न समझ सके ! अधिकारी को ही ज्ञान दिया जाता है। गुरु *स्थिर बुद्धि* वाला हो—चञ्चल बुद्धि वाला न हो। व्यवसायात्मिका बुद्धि ही स्थिर बुद्धि है। गुरु पापरहित हो। जिस गुरु को संसार से प्रेम है वह ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं करा सकता है क्योंकि राग-वृत्ति हो तो ज्ञान का फल नहीं होता है। यह भी आवश्यक है कि गुरु शास्त्र का ज्ञान रखता हो। अपने को मारने के लिये एक ही ब्लेड पर्याप्त है; किन्तु दूसरे को मारने के लिये स्टेन गन (Sten Gun) की आवश्यकता पड़ेगी अर्थात् दूसरों को मार्ग निर्दिष्ट करने के लिये शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है। गुरु *ब्रह्मनिष्ठ* हो अर्थात् उसकी परमात्मा में स्थिति हो, धन पुत्रादि का सहारा लेने वाला न हो। गुरु ब्रह्मातिरिक्त अन्य सारे सहारे छोड़ देता है। ब्रह्मज्ञानी वही हैं जिन्होंने बाहर की इच्छाओं का त्याग कर दिया हो। जो सर्वत्यागी परिव्राजक हैं वे ही ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदान्त के विज्ञान में अनुभवपूर्वक लगे रहने वाले जानने चाहिये। जो संन्यास के साथ ब्रह्मज्ञान एवं निरंतर वेदान्त-चिन्तन में रत रहते हों वे ही ब्रह्म के बारे में समझा पायेंगे।

जिन विद्वद्जनों का रजोगुण और तमोगुण नष्ट हो चुका हो

और सत्त्वगुण में जिनकी स्थिति हो, सत्यवादी हों, माया और अनृत का व्यवहार न करते हों वे ही गुरुत्व के योग्य हैं। गुरु शास्त्रानुकूल आचरण करने वाला होना चाहिये। बहुत-से ज्ञानी पापाचरण न करते हुये भी शास्त्रानुकूल आचरण भी नहीं करते हैं; अपने स्वरूप को छिपाने के लिये भी कभी इस प्रकार का व्यवहार होता है, ऐसे लोग साधारण साधक के गुरु नहीं बन पाते, श्रेष्ठ साधक भले ही उनसे सीख सकते हैं।

कबीर दास जी ज्ञानी संत थे; वे साधना के बाहरी स्वरूप अर्थात् दम्भाचरण की आलोचना करके अपनी प्रेममयी उपदेशात्मिका वाणी द्वारा मानव में सद्भावना का संचार करते थे। उनके विरोधी उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे; किन्तु वे अपने सद्आचरण से उन्हें स्तब्ध कर देते थे। एक बार ऐसे ही लोगों ने एक वेश्या को कुछ धन का लालच देकर कबीरदास को बदनाम करने की चेष्टा की। वेश्या ने बाज़ार में जाकर कबीरदास का हाथ पकड़ लिया और कहा "आप ने मेरे सतीत्व को नष्ट किया है अतः अब मेरे जीवन-निर्वाह की व्यवस्था कीजिये।" संत कबीरदास जी ने बिना किसी उत्तेजना प्रकट किये उस वेश्या के अभद्र व्यवहार को धैर्य्यपूर्वक सहन किया और उसे सांत्वना देते हुये बोले "देवि ! तुम दुःखी क्यों हो रही हो ? मैं तुम्हारी भरसक सेवा करूँगा, तुम मेरी माता के समान हो।" इस घटना को देखने के लिये काफी भीड़ एकत्रित हो गई। लोगों ने वेश्या द्वारा पकड़ने पर कबीरदास पर संदेह प्रकट किया। किन्तु वे एक महान् संत थे। उनका उद्देश्य था—"जो तोकों काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।" भला ऐसे संत से किसी का अपकार कैसे हो सकता था ! अन्त में वेश्या उनके सद्व्यवहार से बड़ी लज्जित हुई और कबीरदास जी से क्षमा याचना करने लगी। कबीरदास जी ने उत्तर दिया "इसमें क्षमा करने की क्या बात है ? मैंने तो तुम्हारे भीतर मातृत्व-भावना को देखा, नारी का सच्चा रूप है माता।"

साधक ऐसे उच्च आदर्श, धैर्य, अक्रोध, क्षमा को जब तक व्यवहार में न देखे तब तक स्वयं ऐसा आचरण नहीं कर सकता अतः सदाचारी, शास्त्रानुकूल आचारों वाला ही गुरु सबके लिये हितकर होता है। वस्तुतः ज्ञानी से शास्त्रविरुद्ध आचरण तीन काल में नहीं हो सकता किन्तु दूसरों को प्रतीत होता है। सच्चा ज्ञानी अपने स्वरूप को छिपाने वाला होता है और पाखंडी दूसरों को दिखाने वाला होता है। गुरु यदि अच्छा कार्य करेगा, तो शिष्य भी उसका अनुकरण करेगा; किन्तु बुद्धि द्वारा छान-बीन कर लेना भी आवश्यक है कि गुरु का कार्य मेरे द्वारा अनुकरणीय है या नहीं।

गुरुजन दम्भ तथा असूया से रहित होना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि पंडितों में सारे गुण होते हुये भी असूया (दूसरों में दोषदृष्टि रखना) इत्यादि अवगुण होते हैं, किन्तु ऐसा व्यक्ति ब्रह्मविद्या का गुरु बनाने लायक नहीं होता।

गुरुजन विषयों अर्थात् इन्द्रियों के अधीन न हों। इन्द्रियसंयम से रहित गुरु शिष्य को पतन की ओर ले जायेगा। ऐसे गुरु से ब्रह्मविद्याप्राप्ति की कभी आशा नहीं करनी चाहिये। जो गुरु शिष्य का सच्चा हितैषी होता है, वह शिष्य को बिना आत्म-ज्ञान दिये कालान्तर तक नहीं छोड़ता है अर्थात् मोक्ष दिलाने के पश्चात् ही छोड़ता है।

गुरु दयालु होना चाहिये। 'बिना दया के संत कसाई' यदि गुरु में दयालुता का भाव नहीं है तो वह शिष्य का कल्याण नहीं कर सकता। अतः गुरु सदा दयाभाव से ओत-प्रोत होना चाहिये। क्योंकि सारी वसुन्धरा अर्पण करना भी ब्रह्मविद्या प्रदान करने की तुलना नहीं कर सकता अतः दयालु गुरु ही ब्रह्मविद्या के उपदेश से शिष्य को कृतार्थ कर सकता है। अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश देने में केवल दया ही निमित्त बन सकती है।

शिष्य के हित के लिये यदि आवश्यकता पड़े तो गुरु ताडना भी देने वाला हो। शास्त्रों में गुरु को दंड देने का अधिकार केवल

शिष्य के हित अर्थात् कल्याण के लिये दिया गया है, किसी द्वेष की भावना से नहीं।

इस प्रकार सद्गुरु अर्थात् सच्चे गुरु संसार में प्राप्त होना आज के युग में बड़ा दुर्लभ है। अतः साधकों को गुरु बनाते समय बड़ी सावधानी से छान-बीन कर लेनी चाहिये। मन-माना गुरु करने से शिष्य का कभी कल्याण नहीं हो सकेगा। आजकल के समय में प्रायः ऐसे गुरु बहुत मिल जायेंगे जो स्वार्थ के लिये शिष्य बनाना चाहते हों पर साधक धैर्यपूर्वक निकट रहकर व्यवहारादि से संतुष्ट होने के बाद ही गुरु बनाये।

शास्त्रों में गुरुसेवा से बढ़कर और कोई कार्य नहीं बतलाया गया है और गुरुकृपा का भी महान् फल होता है। यद्यपि सद्गुरु इस पार्थिव शरीर में ही होता है किन्तु ब्रह्म-निष्ठ होने के कारण उसकी परमात्मा के समान ही स्थिति बतलाई गई है। अर्थात् गुरु परमात्मा का रूप ही है। इसी कारण कहा है

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।'

'गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु, गुरु ही शङ्कर तथा गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं। ऐसे गुरु के लिये नमस्कार है।'

यह अवश्य ध्यान रखने की बात है कि गुरु केवल अधिकारी शिष्य को ही अपनी कृपा के द्वारा कृतार्थ कर सकते हैं।

शिष्य

संसार के विषयों का ज्ञान तभी हो सकता है जब जिज्ञासु में ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता हो। जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य किसी गणितज्ञ के पास किसी प्रश्न को लेकर जावे; तो गणितज्ञ उससे पूछेगा कि "तुम्हारी योग्यता क्या है ?" क्योंकि हो सकता है कि पूछने वाले को समझाने पर भी समझ में न आवे। अतः पहले अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार नारद ऋषि 'साधन-चतुष्टय सम्पत्ति' से युक्त होकर **'ब्रह्म-विद्या'** का ज्ञान लेने ब्रह्मऋषि भगवान् सनत्कुमार के समीप **गये**। सर्वत्र नियम है कि जिज्ञासु के सामने केवल उतनी बात ही कहे जितनी उसकी समझ में आ सके अर्थात् वह ग्रहण कर सके। देवर्षि नारद ने वेद वेदाङ्ग इतिहास पुराणादि एवं समस्त लौकिक विद्याओं के अध्ययन करने का परिचय दिया। किन्तु इतना अध्ययन करने के पश्चात् भी उन्हें ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। अतः विधिवत् अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने प्रार्थना की कि "भगवन् ! आप-जैसे महानुभावों से मैंने सुना है कि—'तरति शोकम् आत्मवित्।' आत्मवेत्ता ही शोक के पार जाता है और मेरा शोक अभी तक दूर नहीं हुआ। अतः हे भगवन् ! मुझे इस शोक-समुद्र से पार लगाइये।"

इससे सिद्ध होता है कि लौकिक विद्या के अध्ययनमात्र से मन का दुःख दूर नहीं किया जा सकता है। सब विद्यायें जानने के पश्चात् भी ब्रह्म-विद्या प्राप्त करना आवश्यक है। बिना ब्रह्म-विद्या प्राप्त किये कुछ हाथ नहीं आता है। गाना और वाद्य सुनाकर केवल पारितोषिक के अतिरिक्त और कुछ प्राप्ति की संभावना नहीं है। इसी प्रकार अन्य लौकिक विद्याओं को जान लेने से उपाधियाँ एवं प्रचुर धनराशि प्राप्त की जा सकती है किन्तु इससे मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि परम तत्त्व को नहीं जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल ही गया।

केले का पेड़ एक बार ही फल देता है; किन्तु उसी वृक्ष की जड़ से दूसरा वृक्ष उगने पर फलित होता है। इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान शिष्यपरम्परा के द्वारा फल आगे बढ़ाता जाता है; किन्तु फल एक बार ही मिलता है ! जब तक ब्रह्म-ज्ञान रूपी फल नहीं लगेगा तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा। जैसे रोगी होने पर बड़े से बड़े इंजीनियर को एक सामान्य डाक्टर के सुपुर्द करना पड़ता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म-विद्या के मामले में श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के

संमुख आत्मसमर्पण करना पड़ेगा।

विद्या के अभिमान का परित्याग सत्पुरुष के लिये आवश्यक है। नारद ने जितनी विद्या अर्जित की थी उतनी सामान्यतः कोई एक मनुष्य एक जन्म में कर ही नहीं सकता फिर भी उनमें उसका गर्व नहीं था, वे विनयपूर्वक ही सनत्कुमार की शरण गये थे। इससे साधक को यह शिक्षा मिलती है कि अपनी विद्या का अभिमान त्याग कर ब्रह्मनिष्ठ की शरण ले।

"विद्या विनयं ददाति" जो विद्या विनय न दे, समझ लो कि वह अविद्या है और जिस विद्यालय में उद्दण्डता तथा अविनय है वह अविद्यालय है। प्राचीन काल में शास्त्रार्थ द्वारा योग्यता का परिज्ञान होता था। एक बार एक पंडित भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करता हुआ मथुरा पहुँचा। वहाँ जाकर उसने घोषणा की कि "मुझ से कोई विद्वान् शास्त्रार्थ कर ले। मैंने भारतवर्ष के बड़े-बड़े पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया है एवं अनेक प्रमाणपत्र प्राप्त किये हैं।" मथुरा के विद्वान् पंडितों ने कहा "यदि आप वृन्दावन के सनातन गोस्वामी को परास्त कर लेंगे तो हम सब बिना शास्त्रार्थ किये ही अपनी पराजय स्वीकार कर लेंगे।" इस प्रकार का आश्वासन पाकर पंडित-प्रवर मध्याह्न काल से कुछ पूर्व ही वृन्दावन पहुँच गये। उन्होंने वहाँ सनातन गोस्वामी को यमुना के तट पर जाकर ढूँढ़ लिया। गोस्वामी जी यमुना के पवित्र जल में स्नान करने के लिये प्रवेश ही कर रहे थे कि पंडित जी ने उन्हें आवाज़ दी। गोस्वामी जी दोपहर के समय ब्राह्मण अतिथि को देख कर बड़े प्रसन्न हुये और कहा "महाराज ! मैं स्नान करने के पश्चात् ही अभी आपका आतिथ्य सत्कार करूँगा। आज मैं आपके दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझ रहा हूँ।" पंडित जी ने कहा "मैं आपसे शास्त्रार्थ करने आया हूँ। मैंने दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया है। या तो आज मुझ से शास्त्रार्थ करें या अपनी पराजय स्वीकार करने का प्रमाणपत्र दें। मैं प्रतीक्षा नहीं कर

सकता।'' सनातन गोस्वामी जी बड़े महान् विद्वान् एवं उच्च कोटि के संत थे। उन्होंने कहा, ''बस इतनी-सी बात के लिये आप चिन्तित क्यों हैं ? लाइये मैं अभी प्रमाणपत्र देकर अपनी पराजय बिना शास्त्रार्थ किये ही स्वीकार करता हूँ।'' ऐसा कहकर शीघ्र ही प्रमाणपत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये और पंडित जी से आतिथ्य स्वीकार करने को आग्रह किया।

बिना ही शास्त्रार्थ किये प्रमाणपत्र पाकर पंडितप्रवर अपनी विजय पर बड़े हर्ष को प्राप्त हुये और शीघ्र ही वहाँ से मथुरा को चल दिये। मार्ग में सनातन गोस्वामी के भतीजे एवं शिष्य रूप गोस्वामी की पंडित जी से भेंट हो गई। रूप गोस्वामी ने पंडित जी का अभिवादन किया और नम्रतापूर्वक उन्हें आश्रम चलने के लिये कहा। क्योंकि वे समझते थे कि पंडित जी बिना ही भोजन किये हुये दोपहर के समय जा रहे हैं। पंडित जी ने बड़े गर्व से कहा ''मैं यहाँ भोजन करने नहीं शास्त्रार्थ करने आया था और सनातन गोस्वामी से अपनी विजय का प्रमाणपत्र लेकर शीघ्र ही वापस जा रहा हूँ।'' रूप गोस्वामी भी बड़े प्रकाण्ड पंडित थे; उन्होंने वेद-वेदाङ्ग का भली भाँति अध्ययन किया था, प्रमाणपत्र पर सनातन गोस्वामी जी के हस्ताक्षर देखकर स्तब्ध रह गये और पंडित जी से पूछने लगे ''क्या गोस्वामी जी ने आप से यथार्थ में शास्त्रार्थ किया है ? अथवा बिना ही शास्त्रार्थ किये उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली ?'' पंडित जी ने उत्तर दिया ''मुझ से वे क्या शास्त्रार्थ करते; उन्होंने बिना ही शास्त्रार्थ किये अपनी पराजय स्वीकार करके मुझे प्रमाणपत्र लिख दिया।''

रूप गोस्वामी से नहीं रहा गया। वे इस अपमान को न सह सके और पंडित जी से स्वयं शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हुये। पंडित जी तो गर्व से उन्नत सिर किये तैय्यार ही थे, दोनों वहीं एक पेड़ के नीचे जम कर बैठ गये। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और अन्त में रूप गोस्वामी की विजय हुई। पंडित जी से उन्होंने सनातन

गोस्वामी द्वारा दिया हुआ प्रमाणपत्र तथा समस्त विजय पत्रों को ले लिया और भिक्षा के अन्न को लेकर सनातन गोस्वामी के पास पहुँचे। सनातन गोस्वामी देर से उन्हें आया हुआ देखकर ताड़ गये कि अवश्य ही इसके देर से आने में कोई विशेष कारण है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसी पंडित को वे शास्त्रार्थ में पराजित करके आये हैं जो कुछ समय पूर्व सनातन गोस्वामी से अपनी विजय का प्रमाण पत्र लेकर गया था। रूप गोस्वामी ने वे समस्त प्रमाण पत्र भी उनके समक्ष प्रस्तुत किये जो उन्होंने पंडित जी से शास्त्रार्थ में विजय के पश्चात् प्राप्त किये थे।

सनातन गोस्वामी ने कहा 'अब तुम्हारा यहाँ कोई कार्य नहीं। यदि तुम्हें ऐसा ही करना था तो इतना त्याग करने के पश्चात् आत्म-विद्या की प्राप्ति के लिये तुम्हारे यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी ? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे अंदर विद्याभिमान का अंकुर प्रस्फुटित हो चुका है एवं तुम्हारे अंतःकरण में वासनायें अभी तक विद्यमान हैं। आज तुमने एक गरीब ब्राह्मण के स्वाभिमान को नष्ट करके बड़ा अनर्थ किया है। ये प्रमाणपत्र ही उसकी जीविका के साधन थे। मेरे पास से क्या गया था ? मैंने हस्ताक्षर ही तो कर दिये थे; किन्तु वह तो इन प्रमाणपत्रों को दिखा कर किसी राजा से सम्मान प्राप्त करता तथा धन एवं पारितोषिक पाकर अपने परिवार का पालन करता, कन्याओं के विवाहादि करता।'

रूप गोस्वामी ने लज्जा से सिर झुका लिया और गुरु के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया, ''मुझे क्षमा कीजिये। भगवन् ! मुझ से बड़ी भूल हुई।'' सनातन गोस्वामी ने उत्तर दिया ''यदि तुम इस अपराध का प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो शीघ्र जाओ और उस ब्राह्मण से क्षमायाचना करो एवं ये समस्त प्रमाणपत्र उसे वापस कर दो।'' रूप गोस्वामी दौड़ते हुये गये। यद्यपि पंडित जी काफी दूर निकल गये थे तथापि उन्होंने पंडित जी को पकड़ ही लिया और उनके चरणों में मस्तक टेक दिया तथा उनके समस्त प्रमाणपत्र

उनको वापस दे दिये। पंडित जी आश्चर्यचकित रह गये। क्षणभर के पश्चात् ही उनके ज्ञानचक्षु खुल गये। अन्त में पंडित जी अपने गृह को न जाकर रूप गोस्वामी के साथ ही सनातन गोस्वामी के समीप आये और उनके चरणों पर गिर पड़े। तत्पश्चात् उन्हीं की शरण में रह कर आत्मविद्या का उपदेश ग्रहण किया।

विद्याभिमानी ब्रह्म-विद्या को नहीं प्राप्त कर सकता है। लोभ, ऐश्वर्य, मर्य्यादा, यश, प्रतिष्ठा इत्यादि सांसारिक विद्या से प्राप्त होते हैं। जब तक विद्या का गर्व रहता है तब तक ब्रह्मविद्या प्राप्ति की संभावना नहीं। कुल-अभिमान, जाति-अभिमान, विद्याभिमान इत्यादि ब्रह्मविद्या के विरोधी हैं। तत्त्वदर्शन के लिये सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। बुद्धि सारे शास्त्रों में विचरण कर चाहे जितनी तीक्ष्ण हो जाये, औपनिषद गुरूपदेश के बिना अकेली बुद्धि से ब्रह्म-विद्या का ज्ञान नहीं हो सकता है। यह अत्यन्त सूक्ष्मतम विषय है। अतः ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने की आवश्यकता है और यह अधिकार सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही संभव है।

भक्ति मार्ग में श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम की आवश्यकता है। कर्मयोग में कर्म करने की प्रवृत्ति तथा सामान्य ज्ञान की आवश्यकता है। किन्तु ब्रह्मज्ञान में अष्टांग[1] योग की भी आवश्यकता है। बुद्धि में निर्मलता प्राप्त करने के लिये निदिध्यासन की आवश्यकता है एवं ईश्वरप्राप्ति के लिये भक्ति की आवश्यकता है। ऊपरोक्त सभी साधनों में गुरु-कृपा नितान्त आवश्यक है। गुरु का प्रयोजन है कि शिष्य के दुःख की हेतुभूत अविद्या को मिटा देना। यद्यपि गुरुकृपा से इह-लोक व परलोक के असंख्य फल मिल जाते हैं तथापि उनकी प्राप्ति से गुरु-लाभ का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। शिष्य की अविद्या दूर हो तभी गुरु मिलना सार्थक होता है।

---

१. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि
''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि''
(पातञ्जल योग दर्शन)।

अविद्या और उसके निवारण का उपाय

अज्ञान दो प्रकार का होता है:— (१) मूल अज्ञान (२) तूल अज्ञान। जैसे १. रस्सी के स्वरूप को नहीं जाना यह मूल अज्ञान। २. सर्प को रस्सी समझना, भ्रान्ति—यह तूल अज्ञान।

एक झूठ को छिपाने के लिये सौ झूठ बोलने पड़ते हैं, इसी प्रकार परमात्मा के असली स्वरूप को नहीं जाना, इसी का नतीजा है कि सारी संसाररूप भ्रान्ति कर्तृत्व-भोक्तृत्व का चक्कर अर्थात् तूल अज्ञान चलता चला जा रहा है। परमात्मा के सच्चिदानंद व्यापक प्रत्यक् स्वरूप को न जानना ही मूलभूत अज्ञान है। सांसारिक पदार्थों का आकार लिये हुए उसी परमात्मा को, अर्थात् आकाशादि घटपर्यन्ट विषयों को न जानना तूल अर्थात् छोटी अविद्या है। 'छोटी' इसलिये कि स्वल्प प्रयास से मिट जाती है। साँप का भ्रम प्रकाश द्वारा नष्ट हो जाता है। किन्तु रस्सी का परमार्थ रूप क्या है यह अत्यन्त परिश्रम के द्वारा तत्त्वबोध से ही पता चल सकता है। मूलाज्ञान केवल अखण्ड आत्मसाक्षात्कार से मिटता है, तूलाज्ञान अपने-अपने घटादि विषयों के ज्ञानों से मिट जाते हैं।

जो कुछ अनात्मा प्रतीयमान है उस रूप में प्रतीत होने वाला एक अद्वितीय चिन्मात्र ही है।

''ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।।''

ठोस शीशा एक मकान के सामने रख दो, उसमें सारा मकान दिखाई देता है; किन्तु उसके अन्दर एक सुई तक नहीं जा सकती! इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म, जिसका स्वरूप ही ज्ञान है, उसमें वास्तव में न अज्ञान हो सकता है और न अज्ञान के कार्य। फिर भी बहिर्मुखी इंद्रियों को भ्रान्तिवश शब्दादि गुणों वाले पदार्थों के रूप में उसी एक चिद्वस्तु का अवभास, अनुभव हो रहा है ! बच्चा

भ्रान्ति को भ्रान्ति नहीं समझता किन्तु ज्ञानी के लिये वह भ्रान्ति ही है। अज्ञानी के लिये वही भ्रान्ति यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर होती है।

तूल-अज्ञान की निवृत्ति सरलता से हो सकती है; किन्तु मूल-अज्ञान की निवृत्ति बड़ी कठिन है क्योंकि इसका कारण केवल परमात्माकी वास्तविकताका ज्ञान ही होता है। विषयों का ज्ञान होना वास्तव में *ज्ञान* बढ़ना नहीं कहलाता। सांसारिक सूचनायें अस्थिर होती हैं क्योंकि संसार ही चंचल है। वैज्ञानिक पहले कहते थे कि संसार के सभी पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। फिर कुछ काल के पश्चात् पता लगा—परमाणु अखण्ड नहीं हैं। उनमें दो वस्तुयें होती हैं—धनाणु और ऋणाणु। यों प्याज़ के छिलके के सदृश अनेकानेक तत्त्वों की जानकारी की अभिवृद्धि होती जाती है, उसे अज्ञान की ही अभिवृद्धि जानना चाहिये। अधिकाधिक विषयों की सूचनायें *ज्ञान* नहीं है, विषय की *वास्तविकता* को अनावृत करने वाला ही ज्ञान है। मनुष्य सोचता है कि "मैंने संसार को समझ लिया"; किन्तु संसार अज्ञान से उत्पन्न हुआ है अतः अनिर्वचनीय माया से उत्पन्न हुआ यह जगत् भी अनिर्वचनीय है। इसे इदमित्थम् समझना ही भूल है, इसके रूप का निर्णय किया जा सके ऐसा यह है ही नहीं। तत्तद् विषयों को जानने की कोशिश अविचार है। सत्य को जानने की कोशिश विचार है।

माया अविचार से बढ़ती और विचार से उड़ जाती है। क्योंकि बहुत सारी बातें जान लेने से अज्ञान समाप्त नहीं होता अतः नारद को भी अज्ञान-परम्परा नष्ट करने के लिये ब्रह्मविद्या की आवश्यकता हुई।

पंचदशीकार तो कहते हैं कि ज़्यादा विद्वान् बनना दुखदायी है!

'वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात्त्वायासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता।।'

वेदाभ्यास से पूर्व तो आध्यात्मिक आदि तापत्रय से ही शोक था

और पीछे, वेदाभ्यास के कष्ट, भूलने का डर, अपने से अधिक विद्वान् से किये गये तिरस्कार की शंका और न्यून विद्वान् को देखकर किये गये गर्व—इन कारणों से शोक नया जुड़ गया ! सारे ग्रन्थों का अभ्यास हो नहीं सकता, विस्मरण भी हो जाता है। न्याय व्याकरण आदि शास्त्र छह महीनों में बिना अध्ययन विस्मरण हो जाते हैं। संसार-विषयिणी विद्यायें ज्ञान की पिपासा को बुझाती नहीं। उत्तरोत्तर विद्या प्राप्त करने के पश्चात् भी मनुष्य की जिज्ञासा को सांसारिक ज्ञान शान्त नहीं करता; जैसे हैजे में प्यास अधिक लगती है ठीक इसी प्रकार सांसारिक वैषयिक ज्ञान पिपासा को बढ़ाता ही जाता है।

वेदादि पढ़ने का फल ब्रह्मज्ञान है। जैसे मिट्टी को जान लेने से मिट्टी से बने सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार परमात्मतत्त्व जान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मज्ञान का फल परमानन्द की प्राप्ति और यज्ञ-दान-तप एवं संन्यास का फल ब्रह्मज्ञान कहा है। ब्रह्मज्ञान के पश्चात् साधक सर्वज्ञ हो जाता है। बहिर्गमन की प्रवृत्ति द्वारा ब्रह्मज्ञान संभव नहीं है। कोई ही धैर्य्यवान् इन्द्रियों को रोक कर ज्ञान प्राप्त करता है।

एक बार एक रानी एक जल-कुण्ड में किसी विशेष अवसर पर स्नान करने के लिये गई। उसके साथ अनेक अङ्गरक्षक दास-दासियाँ थीं। रानी ने अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर किनारे पर रख दिये और स्नान करने के लिये जल के भीतर प्रवेश किया। वह स्नान कर ही रही थी कि अचानक एक चील ने झपट्टा मारा और उसका मुक्ताओं का हार लेकर आकाश में उड़ गई। दासियाँ इत्यादि देखती ही रह गईं। रानी अपने बहुमूल्य प्रिय हार का इस प्रकार अपहरण देखकर हाहाकार करने लगी। उसने अपनी दासियों को बहुत फटकारा, किन्तु हो क्या सकता था ! कोई मनुष्य लेकर भागता तो उसका पीछा भी किया जाता पर चोर तो एक पक्षी था, वह भी आकाश में दूर, दृष्टि से ओझल हो गया। अन्त में रानी विलाप करके अपने महल वापस लौट गई।

इधर चील ने भी एक वृक्ष के ऊपर, जो उसी जलकुण्ड के पार्श्व में था, उस बहुमूल्य हार को ले जाकर अपने घोंसले में रखा। लाल रंग के मुक्ताओं को देखकर उसे माँस के टुकड़ों की भ्रान्ति हुई किन्तु जैसे ही उसने चोंच मारी, उसे कुछ हाथ न लगा और वह हार एक सूखी लकड़ी के सिरे में उलझ कर लटक गया।

कालान्तर के पश्चात् उस कुण्ड में स्नान करने के लिये लोग आये, तो उन्होंने जल के अन्दर देखा कि एक सुन्दर मुक्ताहार पड़ा हुआ है। निर्मल एवं स्वच्छ जल में ऐसे बहुमूल्य हार को देखकर लोग शीघ्र ही उसके अन्दर घुसे और चारों ओर ढूँढने लगे; किन्तु किसी को उस हार की प्राप्ति नहीं हुई। जल के बाहर निकलने पर फिर देखा 'अरे ! यह तो अवश्य ही जल के अन्दर पड़ा हुआ है। एक बार फिर प्रयत्न करना चाहिये।' और फिर जल में घुस कर हार को ढूँढने लगे। इस प्रकार बार-बार उन लोगों की क्रिया होती रही; किन्तु उनके उस हार को ढूँढने के सारे प्रयत्न निष्फल हुये और हार किसी को नहीं मिल सका।

यह खबर चारों ओर फैल गई कि 'अमुक जलकुण्ड में एक लाल मोतियों का हार पड़ा हुआ प्रत्यक्ष दिखलाई देता है; किन्तु ढूँढने पर मिलता नहीं।' सभी लोग इस आश्चर्य को देख कर हैरान थे। एक दिन कोई सच्चे संत उस स्थान पर आये। लोगों ने उनसे उस मुक्ता-हार को ढूँढने की सारी कथा कह सुनाई। महात्मा ने जाकर देखा तो किनारे पर खड़े होकर वह हार जल में प्रत्यक्ष दीख पड़ा। विचार करने लगे 'यदि हार प्रत्यक्ष दिखलाई देता है तो इसका अस्तित्व अवश्य है।' तत्त्वदर्शी महात्मा ठहरे, सोचा कि इसके विपरीत दिशा में ढूँढना चाहिये ! ऊपर की ओर देखा तो वृक्ष की लम्बी शाखायें दीख पड़ीं किन्तु हार दिखलाई नहीं दिया। उन्होंने अनुमान से ही जान लिया कि 'हार इस पेड़ के ही पत्तों द्वारा ओझल है।' ऐसा विचार कर महात्मा जी पेड़ पर चढ़ गये। वहाँ जाकर देखा तो वास्तव में सुन्दर रत्नजटित मुक्ताहार एक

टहनी में उलझा हुआ था। उन्होंने उस हार को लेकर अपने अलफी में छिपा लिया और पेड़ से नीचे उतर आये। नीचे आकर उन्होंने लोगों से पुनः किनारे पर खड़े होकर जल में मुक्ताहार को देखने के लिये कहा। अब वहाँ कुछ भी न दीख पड़ा। सब लोग आश्चर्य-चकित रह गये। फिर महात्मा जी ने वही हार हाथ में लेकर सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखलाया।

ठीक इसी प्रकार, विपरीत दिशा में जाने से परमात्मतत्त्व का ज्ञान होता है। इस संसार रूपी तालाब में विषयभोगों का आनन्द प्रतीत होता है; किन्तु वास्तव में यहाँ आनन्द की उपलब्धि नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी दुःखी दिखलाई देता है। विषयों में सुख है कहाँ ! कोई बुद्धिमान् पुरुष ही विषयों से बहुत दूर अपनी आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है। मूल अज्ञान का पर्दा हटते ही वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती है। अन्तःकरण की गुहा में प्रकाशित भूमारूप आनन्द का अनादि काल से प्रतिबिम्ब भासता है। अनेकानेक विद्याओं के पढ़ लेने मात्र से जिज्ञासा शांत नहीं होती। इन्द्रियों को बंद करके औपनिषद आत्मज्ञान से ही जिज्ञासा नष्ट होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। जैसे वर्षा समाप्त होते ही बादल न मालूम कहाँ चले जाते हैं ठीक इसी प्रकार वास्तविक आत्मज्ञान से जिज्ञासा बिल्कुल लय (विलीन) हो जाती है।

ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। प्रश्न उठता है—क्या ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ? अथवा कर्म की भी आवश्यकता है? या ज्ञान और कर्म दोनों की आवश्यकता है ? कोई विचारक मानते हैं कि कर्म ही मोक्ष को देता है एवं कोई कर्म तथा ज्ञान को मोक्ष के साधन रूप से प्रतिपादन करते हैं। जो विधि वाक्य होते हैं वे ही प्रमाण माने जाते हैं यह कर्मकाण्डियों का मत है, इसलिये वे मानते हैं कि ब्रह्म और आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वाक्य स्तुतिमात्र हैं। कोरे कर्मकाण्डियों से भिन्न हैं उपासनावादी। वे

ज्ञान-कर्म के समुच्चय से मोक्ष मानते हैं। शास्त्र में कुछ वाक्य अपने अनुकूल भी वे खोज लेते हैं जैसे ईशोपनिषत् का मंत्र है 'विद्यां च अविद्यां च' इत्यादि, उससे वे यह समझते हैं कि अविद्या अर्थात् कर्म और विद्या अर्थात् उपासना, ज्ञान, इन्हें साथ-साथ करना बताया जा रहा है। दृष्टांत भी वे ढूँढ लेते हैं—वसिष्ठ, जनकादि का जो कर्म करते रहे थे। इस प्रकार कुछ कर्म को और कुछ कर्म-उपासना को मोक्षकारण बताते हैं।

जैसे-जैसे विचार करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे मतवाद बालू की दीवार की तरह ढहते जाते हैं। पहले युक्ति को समझना आवश्यक है। क्रिया से जो कार्य किया जाता है वह नष्ट अवश्य होता है। अतः कर्म से नित्य मोक्ष नहीं, किन्तु कर्म से अंतःकरण की शुद्धि होती है। यदि कर्म से मुक्ति होती है, तो क्या एक कर्म से या सबको मिलाकर मुक्ति की प्राप्ति होती है ? और यदि एक कर्म से मुक्ति होती है, तो क्या अन्य कर्म त्याज्य हैं? इत्यादि विचार से स्थित हो जाता है कि मुक्ति का हेतु कर्म नहीं है। वेद ने तो सुस्पष्ट कर दिया कि कर्म, प्रजा, धन, आदि से नहीं वरन् इन सबको त्याग कर परब्रह्म के साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। इसी प्रकार की कितनी ही युक्तियों का विवेचन किया गया है। कर्मों के द्वारा बंधन तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। जो ज्ञानी है उसे ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है।

आजकल इस रहस्य को गलत समझने के कारण कुछ लोग साधक को केवल शास्त्रीय शुभ कर्मों से दूर रहने को कहते हैं, लौकिक कर्मों को आवश्यक कहते हैं, उन्हें करना ही चाहिये ऐसा मानते हैं। किन्तु यह पथभ्रष्ट करने का उपदेश है, सांप्रदायिक सदुपदेश नहीं है। सच बोलना, धर्म करना, ब्राह्म मुहूर्त में उठना आदि शास्त्रीय सत्कर्म कठिन होने से लोग उन्हें तो छोड़ना उचित बताते हैं और दुकानदारी, नौकरी आदि को उचित बताते हैं—यह ग़लत बात है। शास्त्र तो यह कहता है कि लौकिक कर्मों को

छोड़कर केवल शास्त्रीय कर्म करो, उससे जब चित्त शुद्ध हो जाये तब शास्त्रीय कर्मों को *भी* छोड़कर बोधाभ्यासमात्र करो। आयास, त्रास, चिन्ता और भ्रम—ये ही धन का फल शिष्टों ने माना है अतः अर्थपरायणता शास्त्रतात्पर्य नहीं है।

'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्।।'

प्रश्न होता है कि जनकादि आत्मज्ञानी भी थे और कर्मयोगी भी थे।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।'

इस गीता के अनुसार अन्य साधक भी उन्हीं की तरह कर्मयोगी रहते हुए आत्मज्ञानी और मुक्त क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर है कि उन महापुरुषों के प्रारब्धवश और संस्कारवश उनसे कर्म होते रहते हैं, उनकी उन कर्मों में कर्तृत्व-बुद्धि नहीं होती। साधकों को तो कर्म छोड़ने की ही आवश्यकता है। साधारण साधक के लिये तो ज्ञाननिष्ठा पाने के प्रयोजन से सर्वकर्म-संन्यास विहित है। वसिष्ठ आदि आधिकारिक पुरुष कर्म करते हुए प्रतीत होने पर भी क्योंकि उनमें अकर्तृत्व-आत्मबोध प्रतिष्ठित रहता है इसलिये वस्तुतः वे भी सर्वकर्मसंन्यासी ही रहे हैं। ज्ञानियों को कर्म करने की आवयश्यकता नहीं है क्योंकि उन्हें कोई शोक है ही नहीं जिसे दूर करने के लिये कार्म किया जाये।

शोकनिवृत्ति

जीव और ब्रह्म की एकता होने पर ही शोक दूर होता है। आत्मज्ञान से परे और कोई उपाय शोक मिटाने का नहीं है। मानसिक दुःख को शोक कहते हैं। बीमारी शरीर का दुःख है। शरीर का दुःख जब मन में पहुँच जाता है तब शोक हो जाता है।

शरीर का दुःख मन का दुःख नहीं है। क्लोरोफार्म सुँघाने पर शरीर बिना पीडा के ही काटा जा सकता है। रात में शरीर उघड़ा रह गया तो ठंड लग गई; किन्तु उस समय मन को अनुभव नहीं हुआ। शरीरादि का कष्ट जब मन में पहुँचता है तब शोक होता है। चित्त के अंदर चिन्ता समाविष्ट हो जाती है तो भी शोक होता है। व्याकुलता से भी शोक होता है। पुत्र के मरने पर दुःख एवं उसे लाइलाज रोग हो जाने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस प्रकार शोक के लिये सहस्रों स्थान मिलते हैं। प्रतिदिन ऐसे अवसर आ जाते हैं जैसे—अपमान होना, बात न मानना इत्यादि। संभवतः कुछ क्षण के लिये ही मन में शोक नहीं रहता अन्यथा सभी कालों में शोक की स्थिति रहती है। वस्तुतः सारा संसार शोकमय है। आजकल प्रायः धन होने को लोग सुख समझते हैं किन्तु वास्तव में धनियों का जीवन सुखी नहीं; पहले कमाने का दुःख फिर बचाने का दुःख, नष्ट हो तो दुःख, खर्च हो जाये तो दुःख; धन दुःखों की खान है। धन दुःख का ही कारण है।

राजा भी प्रायः दुःखी देखे गये है—पड़ोसी राज्य का भय, अपनी ही फौज के बिगड़ जाने का भय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकम्प, एक के बाद दूसरी निरंतर चिन्ता बनी ही रहती है। प्राचीन काल में इसी कारण राजा लोग तपस्या के लिये वन में चले जाते थे।

कुटुम्ब से भी बहुत-से लोग सुख मानते हैं; किन्तु धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे फिर भी उन्हें सुख की प्राप्ति नहीं हुई। यद्यपि युधिष्ठिर ने उनसे कहा कि ''मैं भी आपका पुत्र हूँ'' तथापि बेटे की नालायकी मरने तक कष्टदायक सिद्ध हुई और अन्त में वन-गमन ही करना पड़ा। योग्य पुत्र से भी दुःख ही मिलता है। राजा दशरथ के घर स्वयं पूर्ण ब्रह्म मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम ने अवतार लिया, किन्तु पुत्र होने पर भी पुत्र-वियोग में अपार दुःख का अनुभव करते हुए प्राणों का परित्याग करना पड़ा।

मनुष्य को संसार में बड़े से बड़ा पद तक मिल जावे तो भी शोक से निवृत्ति नहीं हो सकती। देवता लोग भी स्वयं दुःख मिटाने की प्रार्थना करते हैं। जब दैत्य लोग उनके पीछे पड़ जाते हैं तो वे भागे-भागे फिरते हैं। स्वर्ग में भी राग-द्वेष विद्यमान हैं, किसी के मन में शान्ति नहीं। बहुत-से लोग एक दूसरे को देखकर ही दुःखी देखे गये हैं ! संसार में साम्यवाद भी संभव नहीं है; क्योंकि मन की जलन धन-मकान की नहीं बल्कि अन्यान्य विषयों की है जैसे दूसरे के शरीर की सुन्दरता से जलन, रूप में भेद से व बुद्धि में भेद से ईर्ष्या। द्वेष इत्यादि के शोक को बाहरी समानता लाने से भी नहीं दूर किया जा सकता। सम्पत्ति को लेकर ही ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता। यदि ऐसा होता तो सब धनवान् भी एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते ! मानसिक विभिन्नता भी ईर्ष्यादि का कारण बन जाती है।

शरीर भी शोक का कारण है। शरीर जंगल में भी जाने पर साथ ही जाता है। कभी अधिक चलना पड़ा तो शोक, सर्दी-गर्मी शोक का कारण, मृत्यु से भय स्थायी शोक है। प्राणों का सदैव भय रहता है, एक ज्योतिषी जीवन-पर्यन्त प्राणों के भय से घर के बाहर ही नहीं निकले ! जब घर से निकलने का मुहूर्त विचारें तो कोई न कोई अपशकुन हो जावे। केवल एक बार रेल में यात्रा की और उसीमें उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु आने पर कभी छोड़ती नहीं। नैपोलियन का कहना था कि जब तक मेरी मृत्यु नहीं आती तब तक मुझे कोई डर नहीं। कायर दिन में हज़ार बार मरता है किन्तु वीर जीवन में केवल एक ही बार मरता है। रावण ने शक्ति से शनि को उल्टा टाँग दिया था पर सहस्रबाहु ने रावण को बाँधकर उसके दस सिरों पर दीपक जला दिये थे ! नष्ट करने वाले के अधिक हाथ होते हैं और रक्षा के लिये बहुत कम हाथ होते हैं। सहस्रबाहु को परशुराम ने मार डाला और इक्कीस बार क्षत्रियों को नष्ट कर दिया। परशुराम का ऐश्वर्य असीम था, सारी पृथ्वी ब्राह्मणों को

दान दे दी; वही परशुराम भीष्म को पराजित नहीं कर सके ! अष्ट वसुओं में से एक भीष्म, वे महाभारत में अर्जुन द्वारा पराजित हुये। अर्जुन सामान्य भीलों द्वारा पराजित हुआ। संसार में कोई भी मनुष्य ऐश्वर्य से पूर्ण होकर यह कहे कि 'हमें शोक नहीं' ऐसा कभी हो नहीं सकता है।

आत्मज्ञान से ही शोक की निवृत्ति हो सकती है।

शोक से पार जाने का प्रयत्न

प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य के स्त्री, धन, पुत्रादि यदि नहीं हैं अथवा प्रतिकूल हैं, तो कहता है कि "हमारा दुर्भाग्य ही कारण है।" फिर भी भोग्य-प्राप्ति के विषय में उसकी धारणा है कि 'बिना पुरुषार्थ किये भोजन कैसे मिलेगा?' सत्य यह है कि भगवान् पुरुषार्थ से प्राप्त होते हैं और सांसारिक सम्पत्ति प्रारब्ध से प्राप्त होती है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं :— (१) प्रारब्ध, (२) सञ्चित, (३) क्रियमाण।

प्रारब्ध कर्म :—जो किये हुये कर्म फलोन्मुखी हो गये हैं उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। उनका फल इसी जन्म में भोगना पड़ेगा। अपना ही पुण्य और पाप 'प्रारब्ध' के रूप में हमारे समक्ष आता है।

सञ्चित कर्म :—जो कर्म पूर्व जन्म में किये हुये हैं किन्तु अभी फलोन्मुखी नहीं हुये हैं, जिनमें से चुनकर आगे के जन्मों के लिये प्रारब्ध बनेगा, वे संचित कर्म हैं।

क्रियमाण कर्म :—इस जीवन में जो कर्म कर रहे हैं, जिनका फल आगे मिलेगा उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं।

पुरुषार्थ ही प्रारब्ध बनकर फल देता है। पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को समाप्त भी किया जा सकता है। दीवार में एक कील गाड़ दी तो उसे वापस निकाल भी सकते हैं। ठीक इसी प्रकार, पुरुषार्थ

द्वारा कर्मों की निवृत्ति भी संभव है। कालान्तर में कील निकालने का प्रयत्न करने पर कील उखड़ती है किन्तु जितना परिश्रम करके उसे गाड़ा था उतने ही परिश्रम से उसे निकालना पड़ेगा। अतः तब तक प्रयत्न करते रहो जब तक वह न निकले। इसी प्रकार प्रारब्ध को बदलने के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। कितने पुरुषार्थ से निकलेगा—यह नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि बहुत वर्षों की गड़ी हुई कील दो-चार झटके लगने के पश्चात् टूट भी सकती है। फिर, कील निकालना कठिन ही नहीं कभी असंभव भी हो जाता है। कभी कोई निकलती है, कोई नहीं भी निकलती है; किसी के निकालने में कम परिश्रम और किसी में अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

प्रारब्ध तीन प्रकार के होते हैं :—(१) मन्द प्रारब्ध, (२) तीव्र प्रारब्ध, और (३) तीव्रतर प्रारब्ध।

मन्द प्रारब्ध :—कम प्रयत्न से जो प्रारब्ध बदले।

तीव्र प्रारब्ध :—अधिक प्रयत्न से जो प्रारब्ध बदले।

तीव्रतर प्रारब्ध :—प्रयत्न करने पर भी जो न हटे।

जैसे सुख-दुःखरूप फल से ही प्रारब्ध का पता चलता है वैसे सुख-दुःख न होना रूप फल से ही उसके हटने का पता चलता है। आत्मनिष्ठ पुरुष भले ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जान ले, अन्यथा 'हम कर्मबंधन से छूट गये' यह नहीं जाना जा सकता है। अतः अन्तिम क्षण तक प्रयत्न ही करते रहना चाहिये। युद्ध में भी सतत प्रयत्न आवश्यक होता है। अन्त समय तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जीत किसकी होगी।

गत महायुद्ध में जर्मनी ने छोटे-छोटे राज्यों का तो कहना ही क्या, ब्रिटिश साम्राज्य को भी हिला दिया था। एक बार तो ब्रिटिश द्वीपों पर गोलाबारी करके बड़ी गम्भीर स्थिति पैदा कर दी थी। यहाँ तक कि वहाँ के कैबिनेट ने कनाडा जाने का निश्चय कर लिया। किन्तु चर्चिल दृढ साहस से सतत प्रयत्नशील रहे। उन्होंने

स्पष्ट शब्दों में कहा था "भले ही मंत्रिमंडल कनाडा चला जावे किन्तु मैं लंदन की गलियों में ही मरना अधिक श्रेयस्कर समझूँगा" (I will prefer to die in the streets of London)। अपने दृढ़ साहस और धैर्य से ब्रिटेन अन्ततोगत्वा विजयी हुआ।

धर्म का कार्य बड़ा कठिन है। दृढ निश्चय, साहस एवं सतत प्रयत्न द्वारा ही काम, क्रोध, लोभ तथा मोहादि शत्रुओं पर विजय पाना संभव है। सद्-वृत्तियों को राग द्वेषादि शत्रु सर्वदा दबाये रहते हैं; किन्तु धैर्य्यवान् अपने उद्दाम साहस द्वारा इसी जन्म में अपने शत्रुओं पर विजय पाकर परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। अतः पुरुषार्थ को प्रबल रखने की नितान्त आवश्यकता है तभी प्रारब्ध स्वतः ही फलोन्मुखी होकर अनुकूल स्थिति उत्पन्न करेगा। सामान्य लौकिक कर्म में भी पुरुषार्थ का परित्याग नहीं फिर परमार्थ तत्त्व को प्रारब्ध पर छोड़ना उचित नहीं।

सुख-दुःख भी पुरुषार्थ द्वारा ही सिद्ध होता है। भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल भी प्रारब्ध हो ही सकता है। सुख-दुःख प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं; किन्तु उन्हें भोगने का ढंग तुम्हारे हाथ में है। जैसे गर्मी का दुःख किसी प्रकार भोगो, चाहे तीर्थ यात्रा में अथवा चारपाई पर; किन्तु अंतर केवल इतना है, कि तीर्थ यात्रा में भोगा हुआ दुःख आगे के लिये पुण्य देगा और चारपाई पर भोगा हुआ दुःख आगे के लिये कोई पुण्य नहीं देगा।

एक राजा ने घोषणा कर दी कि 'जो व्यक्ति निम्नलिखित चार वस्तुयें लायेगा उसको मैं आधा राज्य दे दूँगा।' (१) है है, (२) है नहीं, (३) नहीं है और है, (४) नहीं है और नहीं है। एक महात्मा आये और उन्होंने राजा को ऊपरोक्त वस्तुयें प्रस्तुत करने का वचन दे दिया। महात्मा जी कुछ कर्मचारियों को लेकर चल दिये। मार्ग में एक मछुआ मछली मार रहा था। 'इसको पकड़ लो', महात्मा जी ने आज्ञा दी। कर्मचारियों ने मछुये को पकड़ लिया। तत्पश्चात् आगे देखा, तो एक कुष्ठ रोगी जप कर रहा था, उसे केवल

भगवान् का सहारा था और सारे सहारे टूट चुके थे। महात्मा जी ने निर्देश दिया कि 'इसे उठा लो।' आगे चलने पर उन्हें एक धनी ऐश्वर्य सम्पन्न किन्तु वेश्यागामी मिला; उसे नृत्य दिखाने का लालच देकर साथ में ले लिया। इसके पश्चात् एक सेठ मिला जो सदाव्रत क्षेत्र का मालिक था। महात्मा जी ने उसे भी अपने साथ ले लिया। इस प्रकार मछुआ, कोढ़ी, भोगी और सेठ—चारों को ताँगे में बैठाकर महात्मा जी राजा के यहाँ पहुँचे। सबसे प्रथम उन्होंने सेठ को राजा के समक्ष उपस्थित किया और कहा "लीजिये 'है है' अर्थात् इन्होंने पूर्वजन्म में पुण्य किया है, इस जन्म में सुख भोग रहे हैं और आगे के लिये भी सुख का अर्जन कर रहे हैं।" इसके पश्चात् द्वितीय धनी भोगी को प्रस्तुत किया और कहा "लीजिये 'है नहीं', अर्थात् इनको पिछला भोग अब तो उपलब्ध है; किन्तु आगे के लिये नहीं है।" तत्पश्चात् तृतीय व्यक्ति कोढ़ी को राजा के समक्ष प्रस्तुत किया और कहा "लीजिये 'नहीं है और है' अर्थात् इसके इस जन्म में सुख नहीं है और इसके अगले जन्म में अवश्य प्राप्ति होगी।" अन्त में चतुर्थ व्यक्ति मछुये को प्रस्तुत किया और कहा "लीजिये 'नहीं है और नहीं है' अर्थात् इसके न पूर्व जन्म में पुण्य था तभी मछुआ बना, न इस जन्म में सुख है और न अगले जन्म में सुख है।" राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और महात्मा को आधा राज्य दे दिया। तत्पश्चात् महात्मा जी ने उन चारों व्यक्तियों को शुभ गति दिलाने का प्रयत्न किया और राजा को आत्मविद्या का उपदेश दिया। तात्पर्य है कि प्रारब्ध अपने हाथ में है, उसका प्रयोग कर सकते हो। सुख-दुःख प्रारब्ध का भोग अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है।

मोक्ष परमेश्वर की कृपा से मिलता है या पुरुषार्थ से ? श्रुति दोनों से बतलाती है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है कि "मैं सब बंधन काटता हूँ।" कई कहते हैं कि बंधन पुरुषार्थ से कटते हैं। दोनों में सत्य क्या है ? भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से कहते

हैं—'मैं तुम्हें मोक्ष दूँगा। मेरी शरण में आने का पुरुषार्थ कर।' भगवान् सबके हृदय में हैं। वे ही सब कुछ देने वाले हैं। भगवान् कर्त्तव्य करने का उपदेश भी देते हैं। पुरुषार्थ नहीं रहेगा तो शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे। जब ईश्वर-कृपा होगी तो मोक्ष मिल जावेगा—यदि ऐसी बात है तो ईश्वर सबको मोक्ष क्यों नहीं दे देता है ? परमेश्वर किसी से राग-द्वेष नहीं करता है। यदि केवल भगवत्-कृपा से मोक्ष मिलता होता, तो सब मुक्त हो गये होते। वास्तव में भगवत्-कृपा यह है कि तुम्हें पुरुषार्थ करने की पूर्ण स्वतंत्रता उस दयालु परमात्मा ने प्रदान की है, चाहे तुम अपने लिये नरक का द्वार खोलो चाहे स्वर्ग का। परमात्मा ने जो नियम परमेश्वर-प्राप्ति का बनाया है, वह भी उसकी कृपा का रूप है और वह नियम पर चलने का फल देता है, यह भी उसकी कृपा है। इस प्रकार दोनों भावों में भगवान् ने कृपा ही की है। जो तुम्हारा कर्म है वही कारणरूप है। परमेश्वर ने वेद शास्त्रों द्वारा नियम निर्धारित किये। जो महापुरुष हैं उनके द्वारा उपदेश देकर संसार से मोक्ष प्राप्त करने का साधन बतलाया; दोनों भगवान् की कृपा के ही रूप में प्राप्त हुये हैं। सद्गुरु अविवेक का परित्याग कराके शिष्य में विवेक स्थापित करता है और परमेश्वर के अनुग्रह से ज्ञान द्वारा मोक्ष मिल सकता है। यदि परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा ही न हो तो राग-द्वेष से निवृत्ति नहीं होगी और फलस्वरूप पाप में प्रवृत्ति बढ़ेगी।

ऐसे पुरुष को उठाने के लिये उपाय होना चाहिये। अतः ईश्वर ने दया करके अवतार को ग्रहण किया। जो जीवन्-मुक्त हैं वे परमात्मा के दया के अवतार हैं। उनमें करुणा का भाव उत्पन्न होता है। वे ज्ञान द्वारा शोकमोहोपलक्षित संसार से कल्याण का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। उनके दर्शनमात्र से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। भगवान् की यह अहैतुकी कृपा ही है कि भगवान् स्वतः जिज्ञासा उत्पन्न न कर सके; किन्तु उनके भक्त कर सकते हैं! एक

बार नारद भ्रमण करते हुये एक ब्राह्मण के घर गये। उसके कोई संतान न थी। ब्राह्मण पूछने लगा "भगवन् ! मुझे पुत्र की प्राप्ति होगी या नहीं ?" नारद ने वैकुण्ठ जाकर उसका भाग्य पता लगवाया। उसके भाग्य में सात जन्म तक संतानसुख नहीं था। नारद ने आकर उसे बताया, बड़ा दुःखी हुआ। कुछ दिनों बाद एक भगवद्भक्त-शिरोमणि भी उधर से गुजरे, उस भक्त ने उनकी भी सेवा-शुश्रूषा की और बात-बात में कह दिया कि नारद बता गये हैं कि सात जन्मों में भी उसे संतान का मुँह नहीं दीखेगा। भक्तराज ने देखा कि गृहस्थ सेवाभावी है, पुत्र चाहता है तो उन्होंने आशीर्वाद दे दिया 'इसी जन्म में सात पुत्र हो जायेंगे।' वह बड़ा प्रसन्न हो गया। नारद जी फिर कभी उस तरफ आये तो उसके बच्चे देखकर चकित हो गये। जाकर भगवान् से पूछा तो भगवान् बोले 'तूने हिसाब, भाग्य पूछा था। भाग्य में तो उसे सात जन्मों तक पुत्र नहीं ही मिलने थे। किन्तु मेरा एक उत्कृष्ट भक्त है, वह स्वयं इसे पुत्र दे गया है। ये पुत्र भाग्य के फल नहीं हैं वरन् भक्त के आशीर्वाद के फल हैं।' बाद में जब उस भक्तोत्तम का दर्शन हुआ तब नारद को भी समझ आया कि श्रेष्ठ भक्त वह कर सकता है जो सामान्य विधान में न हो।

महापुरुषों के हृदय में संकल्प होने पर कल्याण हो जाता है। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के कारण ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। जब संतों को बिना किसी बाह्य संपत्ति के परम आनंद में देखते हैं तब सज्जनों को जिज्ञासा होती है कि ये किस निधि को पाकर इतने संतुष्ट और प्रसन्न हैं ? यही जिज्ञासा धीरे-धीरे मुमुक्षा तक पहुँचा देती है। गुरु के मन में करुणा उत्पन्न करना परमात्मा की कृपा है।

शोक का कारण आत्मा का अज्ञान

शास्त्र ने कहा 'तरति शोकमात्मवित्' आत्मज्ञान से शोक

मिटता है। इसी से सिद्ध हो जाता है कि शोक का कारण आत्मा का अज्ञान है क्योंकि ज्ञान से साक्षात् तो अज्ञान ही मिटता है और अज्ञान मिटने के माध्यम से अज्ञान का कार्य मिटता है। शोक अज्ञानकार्य न होता तो ज्ञान से मिटता भी नहीं। किन्तु शास्त्र कह रहा है, महापुरुषों का अनुभव है कि आत्मज्ञान से शोक मिटता है इसलिये इसमें संदेह नहीं। आत्मज्ञान के बिना शोक कभी समूल मिट सकता भी नहीं, ऐसा कहीं अनुभव या प्रमाण नहीं है कि बिना आत्मबोध के शोक सर्वथा समाप्त हो जाये। अर्जुन में यह स्पष्ट है कि वह शोकग्रस्त था, भगवान् के उपदेश से उसका मोह दूर होते ही वह शोक से निवृत्त हो गया। अतः शोक अज्ञान से ही है।

प्रश्न होगा कि ज्ञान न होना अज्ञान है, अभाव है तो उससे भावभूत शोक कैसे पैदा हुआ ? उत्तर है कि अज्ञान अभाव नहीं है। जैसे अंधेरा प्रकाश का अभाव नहीं, तभी इकट्ठे ही एक कमरे में एक कोने में अंधेरा और बाकी जगह रोशनी रह जाते हैं, ऐसे ही अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं। भाव-अभाव इकट्ठे नहीं रहते जैसे स्त्रीत्व-पुंस्त्व इकट्ठे नहीं रहते ! एक धोबी का गधा कुम्हार ने चुरा लिया। धोबी ने न्यायालय में वाद पेश किया, कह भी दिया कि कुम्हार ने चुराया है। जब कुम्हार पेश हुआ तो न्यायाधीश ने उससे कड़क कर पूछा 'तेरा गधा है या गधी ?' चोरी तो की थी पर यह ध्यान दिया नहीं था। सोचा कि ग़लत बोला तो चोरी पकड़ी जायेगी अतः बोला 'जी, थोड़ा गधा है, थोड़ी गधी है !' जैसे एक ही चौपाया गधा-गधी दोनों हो यह असंभव है ऐसे ही भाव-अभाव एकत्र नहीं हो सकते। ज्ञान-अज्ञान इकट्ठे मिल जाते हैं : सुषुप्ति में अज्ञान है इसकी हमें जानकारी रहती है ! यदि ज्ञानाभाव होता तो जानकारी रहते अज्ञान नहीं रह सकता था। अतः निश्चित है कि अज्ञान कोई अभाव नहीं है अतएव उससे शोक आदि संसार बने इसमें कोई दोष नहीं।

दोपहर में समुद्रतट पर टहलो तो चमचमाती चाँदी दीखती है, लालच होता है, पास जाकर उठाते हो, पता चलता है वह सींप है; बस यह जानते ही न चाँदी रह जाती है, न उसका लालच। सींप के अज्ञान से ही चाँदी का भ्रम और लोभ हुए थे, अतः चाँदी के ज्ञान से ही दोनों की निवृत्ति हो गयी क्योंकि ज्ञान ने उनके मूल को, अज्ञान को मिटा दिया। इसी प्रकार सच्चिदानंद-स्वरूप आत्मा के अज्ञान से हम स्वयं को शोक-मोह से ग्रस्त समझते हैं, जैसे ही आत्मा की सचाई का असंदिग्ध ज्ञान होता है वैसे ही अज्ञान मिटने पर शोक-मोह दूर हो जाते हैं।

निवृत्ति दो प्रकार की होती है :—(१) आत्यंतिक निवृत्ति और (२) कुछ समय के लिये निवृत्ति। सांसारिक जितने भी उपाय हैं—इनमें सत्कर्म और सदुपासनायें भी गिन लेना—सभी जन्य फल देते हैं और जन्य अवश्य नश्वर होता है। अतः ऐसे चाहे जिस यत्न से शोक दूर करो वह कुछ समय के लिये ही दूर रह पाता है, फिर पुनः यथावत् दुःख देने लगता है। तत्त्वज्ञान क्योंकि जन्य फल वाला नहीं वरन् नित्य का ही अनावरक है इसलिये यह जब शोक को निवृत्त करता है तब वह हमेशा के लिये समाप्त हो जाता है। न केवल शोक वरन् उसका कारणभूत अज्ञान ही जब सर्वथा मिट गया तब संसरण की संभावना ही कहाँ ? ज्ञान से ही शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

एक राजा शिकार के लिये गया; उसे एक सुन्दर स्त्री मिली। राजा ने प्रश्न किया "तू कौन है ? तेरा विवाह हो गया है या नहीं?" उसने कहा "मुझे ले चलो। मैं तमाशा दिखाऊँगी।" राजा ने उसे घोड़े पर बैठा लिया और घर पहुँचने पर एक महल में रहने का प्रबंध कर दिया। एक दिन राजा सिंहासन पर बैठा था; उसने ऊपर दृष्टि डाली और बीसों ठीक अपने जैसे राजाओं से युक्त सिंहासन देखकर घबरा गया ! नौकर स्नान के लिये बुलाने आया तो चौंक कर रानी के पास गया, कहा "वहाँ बीसों राजा आये हैं;

वे सब एक-से हैं। अपना राजा कौन-सा है यह समझ में नहीं आता। महारानी ! आप स्वयं जाकर देखें।''

जब रानी ने जाकर देखा तो सभी राजा एक-जैसे दृष्टिगोचर हुये। उसने प्रधान मंत्री को बुलाया। उसे भी वही भ्रम उत्पन्न हुआ; किन्तु प्रधान मंत्री विचारशील था, उसने पृथक्-पृथक् गुप्त बातें पूछीं। सबके ठीक उत्तर मिलने पर उसने पुरोहित को बुलवाया जो बड़ा बुद्धिमान् था। पुरोहित ने विचार कर कहा ''अवश्य ही यह जादू (लीला) है।'' वह एक यन्त्र जानता था। उसने कहा ''एक-एक राजा को स्नानागार में स्नान के लिये बुलाओ।'' यन्त्र को स्नानघर के द्वार पर लटका दिया। जैसे ही एक राजा यन्त्र के नीचे से निकले, वैसे ही गायब हो जावे ! अन्त में केवल असली राजा रह गया। नीति कहती है कि

''अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कर्हिचित्''

'अज्ञात (बिना जाने हुये) कुल और शील वाले को अपने गृह में निवास नहीं देना चाहिये।' अतः पुरोहित ने यक्षिणी को वहाँ से हटा दिया।

इसी प्रकार यह आत्मा रूपी राजा अविद्या के साथ होने पर 'अनेक आत्मा हैं' इस भ्रम में पड़ जाता है ! सौ काँच रखने पर सौ सूर्य के समान अनेक आत्मा भासते हैं। स्वयं आत्मा चक्कर में पड़ जाता है ! इंद्रियरूप नौकर तो जान ही नहीं सकते, बुद्धिरूप पत्नी और मननरूप मंत्री भी सच्चाई नहीं समझ पाते। अन्त में पुरोहित, सद्गुरु यंत्र का प्रयोग करता है। शास्त्रानुसारी विवेक ही यन्त्र है। उसी से पता चलता है कि क्या आत्मा है, क्या अनात्मा है। गुरु विवेक करा कर आत्मा का स्वरूप समझाते हुए महावाक्यों द्वारा जब 'आत्मज्ञान' देता है उसी समय शोक और भय की निवृत्ति हो जाती है। द्वितीयता रहते भय; और जहाँ एक हो वहाँ शोकनिवृत्ति स्वाभाविक है। यही *आत्यंतिक निवृत्ति* है।

संसार के सभी प्राणी किसी-न-किसी अवसर पर शोकग्रस्त

होते हैं और उसकी निवृत्ति चाहते हैं। बिना आत्मज्ञान के शोक-निवृत्ति नहीं होती है। फिर क्या कारण है कि मनुष्य आत्मज्ञान के मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है वरन् वह सांसारिक पदार्थों की ओर अग्रसर होता है। भूख मिटाने के लिये प्रयास करता है; शाम तक फिर वही दशा हो जाती है। थोड़ी देर के लिये इच्छा निवृत्त हुई, फिर वही शोक उपस्थित होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि तत्तद् उपाय से शोक का मूल नहीं नष्ट होता। बगीचे में खरपतवार को यदि यों ही तोड़ दें तो कुछ ही दिनों में पुनः यथावत् हो जाती है क्योंकि उसके मूल मिट्टी में रह जाते हैं। निराई कर जब मूल उखाड़ देते हैं तब क्यारियाँ साफ रहती हैं। अतः पुनः उपस्थित होना सिद्ध करता है कि जड़ से नहीं खोदा गया। विषय-सेवा से शोक दूर होकर फिर आ जाता है क्योंकि विषय शोक का मूल नहीं उखाड़ पाते। किन्तु जैसे मूर्ख माली खरपतवार ऊपर-ऊपर से साफ करता रहता है और उसके फिर-फिर उगने से परेशान होता रहता है वैसे जीव, विषय-सेवन से शोक हटाने का प्रयास करता रहता है। कोई विवेकी पुरुष ही मूल कारण को जानना चाहता है। साधारण डाक्टर रोगी की तत्तद् असुविधायें ही दूर करता है, रोग नहीं, क्योंकि रोग पता ही नहीं लगाता ! अच्छा डाक्टर निदान को प्राथमिकता देता है। चिकित्सा निदान पर निर्भर है। असली तात्पर्य मूल कारण जानने से है। ऊपरी बात से अर्थ-सिद्धि नहीं होती है। शोक-निवृत्ति के लिये—भूख, कपड़ा, मोटर इत्यादि का प्रयोग शोककारण-विषयक अज्ञान से है। विवेकी सब सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके मूल कारण पर विचार करते हैं। नचिकेता का उदाहरण प्रसिद्ध है—विवेक-वैराग्य एवं सात्त्विक बुद्धि से सम्पन्न ऋषि-कुमार नचिकेता ने सुर-दुर्लभ भोग सामग्री की उपेक्षा करके यमराज से आत्मज्ञान का उपदेश ही ग्रहण किया। उनका विवेक दृढ था एवं जन्म-जन्मान्तर के सत्संस्कार थे, अतः परमश्रेय पाने में ही वे तत्पर रहे, तात्कालिक सुखभोगों में उलझे नहीं।

बढ़िया से बढ़िया दुग्ध दूसरे दिन खराब हो जाता है। आँख-कान एवं सभी इन्द्रियाँ कमज़ोर पड़ जाती हैं। चाहे जितना भोग कर लो—अल्प ही है। पदार्थों की प्राप्ति से शोक-निवृत्ति नहीं। बार-बार स्वर्ग-लोकादि का आना-जाना छूटना संभव नहीं। अतः सच्ची बात है कि केवल परमात्मा से संबंध करना ही श्रेयस्कर है। परमात्म-ज्ञान के अतिरिक्त सब व्यर्थ की बातें हैं।

शास्त्र अगाध हैं। भरद्वाज ऋषि जीवन भर वेदों के अध्ययन में संलग्न रहे। दूसरे जन्म में वेदाध्ययन, तीसरे जन्म में भी वेदाध्ययन करते रहे। इन्द्र भगवान् ब्राह्मण का वेष धारण करके आये। इन्द्र ने बालू की ढेरी लगाकर कहा "इसमें कितने दाने हैं ?" भरद्वाज ने उत्तर दिया "इनकी गणना नहीं हो सकती।" तब इन्द्र ने समझाया कि ऐसे ही वेदों का पार नहीं है। भरद्वाज को जिज्ञासु समझ कर इंद्र ने अपने स्वरूप को प्रकट किया। तत्पश्चात् उन्हें आत्मज्ञान का उपदेश दिया। संसार रूपी बंधन से मुक्त होने का साधन आत्मानंद को प्राप्त करना है।

प्राणी प्रतिक्षण मृत्यु के मुख में एक-एक पग रखता जाता है। विषयों के विपरीत कदम रखना ही परमात्मा की ओर बढ़ना है। आवश्यकतायें प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, कभी बंद होने वाली नहीं। अतः विचारशील इससे भागना चाहते हैं। जिस प्रकार राजयक्ष्मा का रोगी दो हज़ार रुपयों का भी लोभ नहीं करता। वह जानता है कि इस धनप्राप्ति के लोभ में मुझे अधिक परिश्रम करना पड़ेगा जिससे शीघ्र ही मेरी मृत्यु हो जायेगी। तात्पर्य यह कि इस लोभ में मृत्यु छिपी हुई है। इसी प्रकार जब निश्चित निदान हो गया कि हमारा शोक आत्मा के अज्ञान से है तब साधक सांसारिक पदार्थों की ओर आकृष्ट नहीं होगा क्योंकि जानेगा कि इनकी ओर जाने से ही शोक की वृद्धि होती है। अतः शोक मिटाने की कोशिश से पहले उसके कारण का पता लगाना मुमुक्षु का कर्तव्य है।

एक राजा था। उसका विदूषक राजा को प्रसन्न रखता था।

राजा उसे कभी पारितोषिक-धन इत्यादि दे दिया करता था। सौभाग्य से एक महात्मा का समागम हुआ। प्रजा, मंत्री, रानियाँ एवं राजा क्रम से सत्संग की ओर अग्रसर हुये। राजा के मन पर सत्संग का बड़ा प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे महात्मा के प्रति प्रेम हो गया। राजा ने एकान्त में महात्मा जी से दीक्षा ग्रहण की। योग्य गुरु से उपदेश प्राप्त करने के पश्चात् राजा योग-धारणा में व्यस्त हो गया। अब विदूषक के प्रयत्न करने पर भी राजा गंभीर भाव में रहे और हँसे नहीं। एक दिन विदूषक ने राजा से प्रार्थना की कि "मुझ से क्या त्रुटि हो गई है जो आप प्रसन्न नहीं होते ?" उसे राजा ने निमंत्रित किया और एक कमरे में टूटी हुई कुर्सी पर बैठाया। ज़मीन गर्म थी, दरवाज़े सभी बंद थे। बढ़िया खाद्य पदार्थ उपस्थित थे और साथ ही एक आदमी तलवार लेकर खड़ा था, बोला "खाना हो तो खाओ अन्यथा गर्दन उड़ा दी जायेगी।" विदूषक बड़ा भयभीत हुआ। ज़रा हिलने पर पृथ्वी गर्म लगे ! बाहर आया तो राजा ने उससे पूछा "भोजन कैसे था ?" वह बोला "मुझे पता नहीं ?" कहाँ से पता लगता ! पृथ्वी गर्म, टूटी कुर्सी, ऊपर से तलवार वाले का डर; ऐसी दशा में भोजन किस तरह अच्छा लगता? राजा ने कहा "मेरे दो पैर अर्थात् पचास साल व्यतीत हो गये और केवल दो ही पैर रह गये हैं। पृथ्वी गर्म है संसार रूपी अग्नि से तथा काल देवता सिर पर तलवार लिये खड़ा है। मैं किस प्रकार हँसूँ ? अब तो किसी प्रकार संसार से छुटकारा हो।"

अनात्म-पदार्थों में विष-दृष्टि होना ही सच्चा परित्याग है—

"शैय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः,
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गना,
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धा न सेवाञ्जलिः।।"

(भर्तृहरि)

'पहाड़ों की शिला ही सुख देने वाली सेज, पर्वतों की गुफा ही रहने का घर, शरीर ढकने के लिये वृक्षों की छाल ही वस्त्र, हिरण मयूरादि ही सुहृद् जन, वृक्षों के कोमल फलों से ही उदर की अग्नि को शान्त करना, झरनों का निर्मल जल पीना और विद्या रूपी स्त्री ही जिनको प्रिय है तथा जिन्होंने किसी के समक्ष हाथ नहीं जोड़े; उन महामुनियों को साक्षात् परमेश्वर समझना चाहिये।

अतः बड़ी से बड़ी सांसारिक उपलब्धि विष के सदृश है। उसके परित्याग से ही आत्मवेत्ता बना जा सकता है।

आत्मा क्या है ?

संसार में कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो "आत्मा क्या है" जानना न चाहता हो। जिस वस्तु का नाम होता है उसका रूप अवश्य होता है। 'अहं' शब्द आत्मा का नाम है। 'मैं' से क्या मतलब ? तुम कौन हो ? 'मैं' पद का कोई-न-कोई अर्थ अवश्य है। 'अहम्' से अभिप्राय 'आत्मा' से है। 'मैं' शरीर हूँ या शरीर से भिन्न कोई अविनाशी हूँ अथवा शरीर छूटने के पश्चात् कुछ दिन रहता हूँ ? क्या सारे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से भिन्न हूँ? क्या आत्मा तेज-रूप है अथवा पोल-रूप (खाली) है ? या पंचमहाभूत रूप है अथवा इनसे मिलकर बना है या बिल्कुल अलग है ? पान, कत्था, चूना में लाली किसी में नहीं पर इन सब के सम्मिश्रण से लालिमा उत्पन्न हो जाती है। क्या इसी प्रकार आत्मा भी सम्मिलित पदार्थ है ? क्या उसका मन से कोई सम्बन्ध है ? और यदि अभिन्न है, तो उसका क्या स्वरूप है ? ये प्रश्न उठते हैं। शास्त्र-ज्ञान के द्वारा विचार करने पर व्यापक अथवा भिन्न का प्रश्न कभी-न-कभी अवश्य उठता है।

किन्तु मोहमयी प्रमाद की मदिरा पिये हुए जीव ऐसा उन्मत्त रहता है कि प्रतिक्षण शोकाकुल होकर भी शोककारण मिटाने का यत्न नहीं करता वरन् सांसारिक भोगों में ही मस्त होकर परमेश्वर

का भी तिरस्कार करता है। जैसे मेढक को एक रुपया मिल जाये तो वह हाथी को कुछ भी नहीं समझता या तुच्छ मति वाले को थोड़ा धन प्राप्त हो जाये तो वह सज्जनों को कुछ नहीं समझता ऐसे ही फल्गु भोगों में संलग्न रहकर नित्य शुद्ध परमात्मा को कुछ नहीं समझते हैं। उन्मत्त को कभी विचार नहीं होता है। भगवान् उसे ठोकरें खिलाता है। मनुष्य स्वयं अपने को सिद्ध बलवान् और सुखी समझता है किन्तु एक दिन उसे सर्वस्व छोड़कर जाना पड़ता है। उस क्षण पता चलता है कि सांसारिक प्रवृत्ति में व्यर्थ ही जीवन गँवाया, सत्य प्राप्त करने की कोशिश नहीं की। अतः स्नेह के पाश में बँधा हुआ मनुष्य समय रहते ही सब कुछ त्याग कर आत्मज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

आत्मा ही दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने तथा ध्यान करने योग्य है। गृहस्थ नित्य भक्ति में तत्पर रहे। भक्ति से युक्त होकर मन स्थिर करके वेदान्त का सत्संग किया जावे। गुरु-सेवा से युक्त वेदान्तश्रवण अस्सी चान्द्रायण व्रत के समान फलदायक सिद्ध होता है। चान्द्रायण व्रत एक महीने में संपन्न होता है। वह भी गृहस्थ आश्रम में नित्य संभव नहीं है। गुरुसेवा सहित रोज़ वेदान्तश्रवण करो तो वैसे अस्सी व्रतों का फल रोज़ मिलता रहेगा! आत्मज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। द्विज का दूसरा जन्म होता है : प्रथम माता के गर्भ से, दूसरा आचार्य के गर्भ से अर्थात् गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का संस्कार होता है।

गुरु-ऋण से मुक्त होने के लिये भी तीन कर्तव्य बतलाये हैं—१. सेवा, २. आत्म ज्ञान का प्रयत्न, ३. शिष्य-परम्परा न टूटने देना अर्थात् अपने शिष्य बनाये तथा साम्प्रदायिकता को बनाये रखे। मनु महाराज ने कहा है कि सद्गृहस्थ सारे विस्तृत कर्म न भी कर सके तो भी १. आत्मज्ञान, २. वेदाभ्यास तथा ३. शम अवश्य करे। केवल कर्मों के परित्याग से मुक्ति नहीं मिलती। त्वं-पदार्थ के

अर्थात् आत्मा के विवेक के लिये सब पदार्थों का परित्याग करना, साधु बनना सबसे कठिन कार्य है। त्रिकालदर्शी ऋषि, कवि, संन्यासी बनना छुरे की धार पर चलने के समान अति कठिन है। यज्ञ (हवन), आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि की अपेक्षा 'अयन्तु परमोधर्मः' योगाभ्यास के द्वारा आत्मदर्शन परम धर्म है। यह यदि नहीं करोगे तो दोष की प्राप्ति होगी।

किसी प्रकार मनुष्य का जन्म प्राप्त किया तो इसमें अधिक उत्तरदायित्व है वह यदि पूरा नहीं किया, तो ईश्वर पदच्युत कर देता है। वेदाध्ययनपूर्वक तत्त्वबोध भारतवर्ष में ही संभव है। जो मूढबुद्धि अपनी आत्मा की उन्नति के लिये प्रयत्नशील नहीं उसे आत्महनन करने का पाप लगता है—

''जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाय
सो कृत निंदक मंद गति आत्माहन गति जाय।'' (मानस)

हमारे यहाँ नीति है 'कुल की रक्षा के लिये व्यक्ति का, ग्राम के हित के लिये कुल का, जनपद के हित के लिये ग्राम का एवं आत्मा के लिये संसार तक का त्याग कर देना चाहिये।' आत्मज्ञान से सब शोकों की निवृत्ति हो जाती है।

आत्मा का ज्ञान किसे कहते हैं और आत्मा का क्या स्वरूप है? प्रत्येक वस्तु का नाम और रूप अवश्य होता है। रूप केवल आँखों से दीखने वाला ही नहीं होता, वस्तु को जो निरूपण कर दे, अन्यों से पृथक् कर केवल उसी का व्यवहार संभव कर दे, वह उसका रूप कहा जाता है।

नाम और रूप अलग-अलग रह नहीं सकते। घड़ा मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संसार के सभी पदार्थ एक परम तत्त्व परमेश्वर ही है। मिट्टी के नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न नाम-रूप होते हैं; नाम का तब तक पूर्ण ज्ञान नहीं जब तक रूप का ज्ञान नहीं होता। रेडियो-शब्द से कोई अर्थज्ञान नहीं जब तक रेडियो देख न लो। कोष देखकर भी ज्ञान हो सकता है पर बिना देखे

ग़लत भी हो सकता है। अतः नाम तब तक शब्दमात्र है जब तक रूप देख न लिया जावे। इस प्रकार नाम-रूप का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आत्मा का नाम तो हम सब लेते रहते हैं 'मैं', 'मैं', परन्तु अर्थ जानने की कोशिश नहीं करते !

अहं-शब्दार्थ आत्मा निस्सन्देह है। 'मैं नहीं हूँ' यह कभी अनुभव नहीं हो सकता है। 'नाहमस्मि' आत्मा नहीं है—यह किसी काल में संदेह भी नहीं हो सकता है। विचारशील को कभी संदेह नहीं हो सकता है कि वह स्वयं है या नहीं।

एक भोला आदमी अपनी दुकान में काम करता था। लोग उसकी हँसी उड़ाया करते थे। वह एक बार अपने ससुराल गया। वहाँ सब लोग रोने लगे। सबने उससे कहा ''तुम्हारी पत्नी विधवा हो गई है।'' वह बेचारा सोच-समझ तो सकता था नहीं, खुद भी रोने लग गया। घर लौटकर भी रोने लगा। ''मेरा घर उजड़ गया। अरे ! मेरी पत्नी विधवा हो गई।'' लोगों ने कहा ''तू तो जीवित है। तेरी पत्नी किस प्रकार विधवा हो गई ?'' उसने कहा ''मेरे सामने मेरी दादी विधवा हो गई। मेरी माँ विधवा हो गई। मैं उन्हें विधवा होने से नहीं बचा सका तो यदि मेरी पत्नी विधवा हो गयी तो क्या आश्चर्य है !'' ऐसे अविचारशील तो आत्मा को भी नश्वर मानते हैं, पर विचारक नहीं।

आत्मा स्वतः सिद्ध है, उसके लिये और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अहम् का जब अनुभव होता है, तो उसका ज्ञान होता है। इस समय यहाँ बैठने पर किनारी बाज़ार का कुछ पता नहीं। लेकिन 'मैं' और ज्ञान का सदा साहचर्य्य है, सदैव साथ-साथ रहते हैं। 'मैं' के साथ 'नहीं है' ऐसा कभी नहीं होता। बिना सत्ता के 'अहम्' नहीं मिलता है। 'अहम्' ज्ञानरूप ही है। सद्रूपता, चिद्रूपता सदैव उसमें रहती है।

आत्मा में प्रमाण पूछ नहीं सकते। संसार में सारे पदार्थों की

सिद्धि आत्मा द्वारा ही होती है। यदि देखने वाला न हो, तो कुछ भी किस प्रकार दीख जावे ? जिसके होने पर सारे प्रमाणों की सिद्धि होती है उसमें प्रमाण पूछना निरर्थक है। ठंड लग रही है। जब तुम हो, तभी तो ठंड लग रही है । अतः आत्मा को मानना पड़ेगा। बौद्ध परम नास्तिक हैं, आत्मा और ईश्वर को नहीं मानते। शून्यवादी का कथन 'मेरे मुख में जीभ नहीं है' कहने जैसा है। क्षणिक- विज्ञानवादी परिवर्तन के अनुभव से मानता है कि स्थायी आत्मा नहीं है। किन्तु कभी-कभी अनुभव भी धोखा देता है जैसे बालू में मृगमरीचिका दीख जाती है। स्वर्ण के समस्त गुण मिलें तो वस्तु को स्वर्ण ही माना जाता है, इसी प्रकार हमेशा आत्मा के गुण सच्चिदानंद मिलते ही रहते हैं तो आत्मा को नित्य ही मानना पड़ेगा। परिवर्तन की प्रतीति की परीक्षा करें तो पता चल जाता है कि बदलाव उपाधि में ही आते हैं, आत्मा में नहीं। इस प्रकार विवेकी आत्मा को समझ सकता है। यों स्वयं समझना ज़रूरी क्योंकि आत्मा की वास्तविकता जानने की इच्छा भी तभी हो सकती है जब पहले आत्मा के बारे में सामान्य ज्ञान हो। यदि आत्मा के बारे में कुछ भी नहीं पता, आत्मा है यह भी नहीं पता, तो उसे जानने की इच्छा हो नहीं सकती। हमारे सामने अनात्मा से मिला-जुला आत्मा है इसीलिये उसका सामान्य ज्ञान तो है कि 'मैं हूँ' किन्तु उसके विशुद्ध स्वरूप का पता नहीं कि 'मैं क्या हूँ, कैसा हूँ।' हम अपने को देवदत्त आदि जानते हैं अर्थात् शरीर को मैं समझते हैं, कर्ता-भोक्ता समझते हैं अर्थात् मन को मैं मानते हैं किन्तु देह मैं नहीं क्योंकि स्वप्न में नहीं रहता, मन भी मैं नहीं क्योंकि सुषुप्ति में नहीं रहता। यों विवेक करें तभी पता चल सकता है कि मैं कौन हूँ, आत्मा क्या है।

एक बाजीगर ने ऐसी भूलभुलैया बनायी जिसमें से निकलना तब तक असंभव था जब तक कोई जानकार रास्ता न बताये। दृश्य बड़े आकर्षक अंकित थे तो लोग प्रवेश करते ही थे पर

निकल नहीं पाते थे, भटकते रह जाते थे। जगह-जगह बाजीगर ने लिख रख था 'यदि तुम तंग आ जाओ तो बाजीगर को याद कर लेना, वह तुम्हें बाहर निकाल देगा।' प्रायः लोग तो चित्र ही देखते थे, उस सूचना को देखते ही नहीं थे, केवल परेशान होते रहते थे। कुछ सावधान लोग ही वह सूचना पढ़कर उसे याद करते और बाहर निकल आते थे।

ठीक इसी प्रकार परमेश्वर बाजीगर है और संसार चक्रव्यूह है। विभिन्न योनियाँ इसमें प्रवेश के द्वार हैं भोग, पाप, पुण्य, रूप, रस, गंध, स्पर्श, चखना, सुनना इत्यादि के अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं है। भगवान् ने वेद रूपी सूचना में इस चक्रव्यूह से, संसार से छूटने का उपाय बतलाया है। परमात्मा की ओर दृष्टि करने पर जीव इससे निकल सकता है; यह पुराण, शास्त्र, महाभारत, रामायण आदि में नोटिस या सूचना दे रखी है। अज्ञानियों को भोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। जब ईश्वर का सहारा लोगे तब वही गुरुरूप से ठीक मार्ग-प्रदर्शन करेगा। देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार—इन्हीं में कहीं आत्मा छिपा हुआ है। सामान्य ज्ञान होने पर भी विशेष ज्ञान न होने के कारण मनुष्य भ्रमता रहता है।

आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध होता है। आत्मा का ज्ञान अहं-प्रत्यय से होने पर भी उसके स्वरूप में मतभेद है। पंचमहाभूतों के अतिरिक्त आत्मा नहीं यह चार्वाक-सिद्धान्त है। भूमि, जल, तेज और वायु—चार भूतों—से आत्मा उत्पन्न हो जाता है ऐसा वे मानते हैं। प्रमाण देते हैं सबके अनुभव का, जैसे —'मैं मोटा हूँ।' जहाँ दो शब्द एक ही वस्तु का प्रतिपादन करते हैं वहाँ समानाधिकरण होता है जैसे—"घटो नीलः" अर्थात् जो घड़ा है, वही नीला है। ठीक इसी प्रकार जो मैं है, वही मोटा है। मोटा शरीर है। अतः 'मैं' पद से देह को ही आत्मा सब कहते हैं। अतः आत्मा शरीर से भिन्न नहीं। जहाँ 'मेरा' यह शब्द प्रयोग किया जावे, वह मैं से भिन्न होता है किन्तु चार्वाक कहता है कि शरीर को 'मेरा' यों ही

कह देते हैं, यह गौण प्रयोग है। प्रायः आजकल के समय में वैज्ञानिक इसी सिद्धान्त को मानते हैं। यह मान्यता ठीक है या गलत है ?

मैं मोटा हूँ। दस साल के पश्चात् पतला हो गया। फिर आत्मा शरीर किस प्रकार से हुआ ? जो अनुभव करता है वही स्मरण करता है। बदलने वाले शरीरों में एक अनुगत पदार्थ स्वीकार करना पड़ेगा। अनेक वर्षों में स्थूलदेह बदलता हो यही नहीं, प्रतिदिन स्वप्न में हमें अलग शरीर प्रतीत हो जाता है, उसे भी हम 'मैं' समझते हैं और जगने पर याद भी करते हैं। अतः शरीर आत्मा नहीं हो सकता, याद करने वाला ही आत्मा हो सकता है।

चार्वाक कहता है कि जैसे चावल-पानी में नशा नहीं पर पानी में चावल सड़ा दें तो उससे बनी शराब में नशा होता है, ऐसे महाभूतों में चैतन्य न होने पर भी उनसे बने शरीर में चैतन्य हो जाता है। किन्तु यह तर्क ग़लत है क्योंकि कारण में जो निहित नहीं होता वह उत्पन्न नहीं हुआ करता। चावल में भी नशे की सामर्थ्य है तभी उससे शराब बनती है, चाहे जो चीज़ सड़ा देने से नहीं बनती। यों प्रत्येक महाभूत में चैतन्य न चार्वाक मानता है न मानना संगत है क्योंकि तब शरीराकार में स्थित भूतकण अनंत होने से प्रतिशरीर अनन्त चेतन उसे मानने पड़ेंगे जो अनुभवविरुद्ध है। 'मैं' अनुभव में एक ही रहता है अतः यावज्जीवन एक शरीर में एक आत्मा ही लोकमान्य भी है। यदि पूछो कि शरीर-भिन्न आत्मा मानें क्यों ? तो युक्ति है कि जहाँ अनेक अवयव तालमेल बैठाकर कोई सप्रयोजन कार्य करते हैं वहाँ अवश्य उन अवयवों से अतिरिक्त कोई होता है *जिसके लिये* वे ऐसा करते है; शरीर भी विभिन्न अवयवों का सूक्ष्म तालमेल वाला संगठन है अतः इन अवयवों से *अन्य किसी के लिये* ही हो सकता है। जो अवयवों से अन्य है, जिसके लिये ये मेल-जोल रखकर कार्य करते हैं उस आत्मा को मानना सुसंगत है। किं च लोग अपने संकल्पों की पूर्ति

के लिये शरीर तक का त्याग कर देते हैं, इससे भी पता चलता है कि त्याग करने वाला शरीर से अलग है। मृत्यु देहभिन्न आत्मा में पर्याप्त प्रमाण है क्योंकि शरीर ही आत्मा हो तो वह यहाँ पड़ा ही रहता है फिर किसी को मरा हुआ कैसे कहोगे ? जो शरीर में प्रवेश करे तो शरीर सजीव हो जाता है और निकल जाये तो शरीर निर्जीव हो जाता है, वह शरीर से भिन्न है इसमें क्या संदेह !

एक राजा ने किसी सिद्ध योगी को सेवा से प्रसन्न कर उससे परकाय-प्रवेश की विद्या प्राप्त की। जब राजा सीख रहा था तब वहाँ छिपकर उसके नाई ने भी वह विद्या ग्रहण कर ली ! राजा के पास एक श्वेत कौआ मनुष्यों की सी बात करता था। एक बार कौआ मर गया। रानी बड़ी रोई। राजा ने समझाया "मर गया, अब वापस थोड़े ही आवेगा।" रानी रोती ही रही "बेचारा तुरंत मर गया। मुझ से दो मिनट बात कर लेता, तो मेरा काम बन जाता।" राजा ने सोचा "इस समय अच्छा अवसर है, अपनी सिद्धि की परीक्षा हो जावेगी और रानी को भी सांत्वना मिल जावेगी।" ऐसा विचार कर राजा ने महल में जाकर किवाड़ बंद कर लिये। नाई साथ था, वह छत पर चढ़ गया। राजा ने अपनी परकाय-प्रवेश की क्रिया का प्रयोग किया और उस कौवे के शरीर में प्रवेश कर लिया। नाई चालाक था, उसने शीघ्र ही राजा के शरीर में प्रवेश कर लिया ! उधर कौवा जी उठा तो रानी बहुत खुशी से उससे खेल रही थी। तब तक वह नाई-राजा वहाँ पहुँचा, उसने रानी से कहा कि "अब पाँच मिनट हो गये, इस कौवे को मार दूँ।" ऐसा कहकर मारना ही चाहता था कि कौआ उड़ गया ! रानी को शंका हो गयी, राजा के व्यवहारों से और भी शंका हो गयी कि कुछ गड़बड़ अवश्य है, अतः दस साल तक दैहिक संबंध न रखने की प्रतिज्ञा कर ली। तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न महात्माओं के दर्शन एवं सत्संग करने लगी। नाई ने कुछ समय के पश्चात् अपना शव जलवा डाला। रानी को विश्वास हो गया यह नाई का ही काम है।

वह कौआ इधर-उधर भटक कर किसी दिव्यज्ञान से सम्पन्न महात्मा के पास पहुँचा। उन्होंने अपनी सामर्थ्य से सब पता लगा लिया। दया-प्रेरित हो उन्होंने उसे तरकीब बतायी अपना शरीर और राज्य पुनः पाने की। कौआ उड़कर अपने राज्य लौटा, महल में रानी के पास पहुँचा। रानी शंकित थी ही, कौआ देखा तो उसे पहचान लिया, राजा ने रानी को सारी बात बतायी और नाई-राजा की समाप्ति का उपाय भी बता दिया। रानी ने एक यज्ञ का सम्पादन कराया जिसमें एक बकरे की बलि देनी थी। बलिदान के कुछ क्षण पूर्व बकरा मर गया ! ऋत्विकों ने इसे बड़ा अपशकुन बताया। नाई-राजा ने सोचा 'अपनी सिद्धि का प्रयोगकर इसे जिला देता हूँ, कुछ क्षणों में जब बलि दी जायेगी तब लौटकर राजशरीर में प्रवेश कर लूँगा।'' उसने पुरोहित से कहा 'मैं जाकर प्रार्थना करता हूँ, बकरा जी जायेगा।' वह अपने कमरे में गया, कुछ ही देर में बकरा जी गया। पुरोहित को सारा रहस्य पता ही था; इधर जैसे ही बकरे में प्राणसंचार देखा उसने उसे काट डाला और उधर तत्काल ही कौवे का शरीर छोड़कर राजा ने अपने शरीर में प्रवेश कर लिया !

तात्पर्य यही है कि शरीरातिरिक्त आत्मा अवश्य है जिसके संपर्क से शरीर सचेष्ट होता है और वियोग से निश्चेष्ट शव बन जाता है। यों विचारकर मैं का सामान्य अवबोध पाकर इसके विशेष ज्ञान के लिये साधक जिज्ञासा करे तो साधन-संपन्न होकर उपनिषदों के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से उसे व्यापक आनंदरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

आत्मा का ज्ञान ही शोकनिवृत्ति का कारण है किन्तु सामान्य ज्ञान फल उत्पन्न नहीं कर सकता है। आत्मा का विशेष ज्ञान ही शोक की निवृत्ति कर सकता है। आत्मा को जैसे कुछ लोग स्थूल देह मानते हैं वैसे ही बहुतेरे लोग सूक्ष्म देह मानते हैं। वह भी

मान्यता ग़लत है। एक तो इंद्रियादि बहुत-सी चीज़ें सूक्ष्मशरीर हैं, उनमें कौन आत्मा होगा ?—यही प्रश्न कठिन है। दूसरी बात, इन्द्रियादि के विकार से 'मैं परिवर्तित' यह अनुभव भी नहीं होता। और तीसरी बात, सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर के बिना भी मैं रहता हूँ इसलिये सूक्ष्म शरीर आत्मा नहीं है। अतएव मन भी आत्मा नहीं है। सुषुप्ति में मन नहीं रहता, मैं रहता हूँ। यह भी अनुभव होता है कि 'मेरा मन अन्यत्र था, मेरा मन लग नहीं रहा, चाहकर भी मन को स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ, मन बस में नहीं है;' इत्यादि; इससे भी मन से अन्य आत्मा निश्चित होता है। मन इंन्द्रिय-पक्षीय ही है क्योंकि 'मन से मैं जानता, सोचता, महसूस करता हूँ' यों मन का साधनरूप से अनुभव सबको होता है। शास्त्र तो स्पष्ट ही आत्मा को मन से पृथक् बताता है। अतः मन आत्मा नहीं है।

मन स्वयं ही स्वप्न के अंदर पहाड़, नदियाँ, महल आदि वासना को लेकर खड़े कर लेता है। अतः वहाँ अपने पहाड़रूप मन को ही देखा। वहाँ 'अहम्'-पद वाच्य मन से भिन्न ही कोई वस्तु है। वहाँ जो वस्तु देखी, वास्तव में वह सच्ची नहीं हो सकती है। रात में स्वप्न देख रहे हो—कड़ी धूप पड़ रही है। रामेश्वर का दर्शन कर रहे हो। बड़ी भारी भीड़ है। अर्द्धरात्रि में सूर्य दिखाई कैसे दे सकता है ? यदि जाकर वहाँ के पुजारी से पूछें, तो वह कहेगा कि 'स्वप्न देखा होगा !' अतः यह सिद्ध हुआ, कि स्वप्न-पदार्थ असत्य हैं, वस्तु-स्थिति से ऐसा नहीं हो सकता है। स्वप्न में मन स्पष्टतः विषय बनकर अपनी अनात्मता स्फुट कर देता है।

दो मुसलमान और एक जाट साथ-साथ जानवर खरीदने के लिये बटेश्वर के मेले को जा रहे थे। चलते-चलते संध्या हो गई। किसी स्थान पर ठहर कर खाने-पीने का प्रबंध किया गया। जाट ने खीर बनाई। दिन भर की थकान के कारण मियाँ नींद में थे, कहने लगे ''अभी खीर गरम है। ढाँक कर रख दो। प्रातः काल खा लेंगे।'' जाट ने खीर रख दी। फिर ''भूखे रहते मुझे नींद कैसे

आये'' ऐसा कह कर खीर का भोग लगा दिया और समस्त खीर खा गया ! लेटते ही उसे निद्रा आ गई। प्रातःकाल मियाँ उठकर वजू करने के पश्चात् बातचीत करने लगे। तत्पश्चात् जाट उठा। मियाँ बोला ''मैं रात्रि में स्वप्नावस्था में हज करने गया।'' दूसरा बोला ''मैंने स्वप्न में देखा, एक फरिश्ता आया और मुझे अर्शे वरीं पर ले गया।'' जाट ने कहा ''रात को जब मैं सो गया तो हनुमान् जी आये और उन्होंने मुझे मार-मार कर सब खीर खिला दी।'' मियाँ कहने लगे ''हम लोगों को क्यों नहीं जगाया ?'' जाट ने कहा ''आप यहाँ थे कहाँ ? एक हज करने गया था और दूसरा अर्शे वरीं की सैर कर रहा था !'' यह बात कोई नहीं मानेगा क्योंकि सब जानते हैं कि स्वप्न में जो दीखता है वह असत्य होता है। विचार करो, क्या *देखने वाला* भी असत्य होता है ? नहीं होता। अतः दीखने वाला मन असत्य है और उससे अलग देखने वाला आत्मा सत्य है, यह स्पष्ट हो जाता है।

सुख नाक, कान, आँख इत्यादि से नहीं देखा जाता है किन्तु अनुभव में आता है। रूप दीखता है तो आँख द्वारा दीखता है। वैसे ही सुख, दुःख का अनुभव मन से होता है। बिना मन के सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। क्लोरोफार्म से शरीर सुन्न कर देने पर मन की गति अवरुद्ध हो जाती है। इन्द्रियों से सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती। सुख को न देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है, न सूँघा जा सकता है, न चखा जा सकता है। दुःख सुख का ज्ञान करने वाला मन है। किन्तु ज्ञान किसे होता है ? हथौड़े से कील ठोकी गई पर कील गाड़ी किसने? ऐसे ही मन *से* अनुभव हुआ पर हुआ किसे ? अतः मन से अतिरिक्त कोई *आत्मा* है। आँख ने घड़ी को देखा परन्तु 'मैं घड़ी के ज्ञान वाला हूँ' यह आँख का अनुभव नहीं, आत्मा का अनुभव है। इसी से आगे घड़ी की, और घड़ी जानी थी इस बात की स्मृति होती है। स्मृति उसी की हो सकती है जिसका अनुभव किया हो, बिना पुराने अनुभव के

स्मृति नहीं होती। घड़ी के *ज्ञान की* स्मृति होती है तो अवश्य घड़ी के ज्ञान का ज्ञान रहा होगा। यह जो ''ज्ञान का ज्ञान'', ''मुझे जानकारी है''—यह अनुभव है, यह देहादि सबसे विलक्षण आत्मा को समझने का अचूक उपाय है। उसी आत्मा की व्यापकता जान लेने से शोक मिट सकता है।

वैदिक दर्शन, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा इत्यादि, मन से भिन्न आत्मा को मानते हैं। नैय्यायिक-मीमांसक उसे कर्त्ता-भोक्ता मानते हैं और सांख्य-योग उसे केवल भोक्ता मानते हैं। उपनिषदें समझाती हैं कि वह भोक्ता से भी प्रत्यग्भूत चिन्मात्र है। आत्म-प्रबोधन के लिये वेदान्तों की प्रक्रिया है जगत्कारणरूप से उसे बताना। अद्वैत बुद्धिगत करने के लिये यही सर्वाधिक समीचीन ढंग है क्योंकि इससे नाम-रूपात्मक जगद्भेद का बाध भी हो जाता है और अधिष्ठान तत्त्व का स्वतः सिद्ध सत्त्व भी भास जाता है।

यदि संसार का आत्मा कारण है तो वह किस प्रकार का कारण है ? एक होता है उपादान कारण, जैसे घड़े के प्रति मिट्टी, दही के प्रति दूध। जिससे जो वस्तु बने, वह उपादान कारण। बनाने वाला निमित्त कारण होता है जैसे कुम्हार, रसोइया आदि। उपादान के भी भेद होते हैं—१. आरंभक-उपादान, २. परिणामी उपादान, ३. विवर्त उपादान।

आरंभक उपादान उसे कहते हैं जो ऐसा कार्य पैदा करे जो कार्य पहले सर्वथा नहीं है। जैसे मकान बनने से पूर्व मकान सर्वथा नहीं है, ईंट-गारा आदि से मकान तैयार होता है अतः ईंट आदि उसके आरंभक उपादान हैं। ऐसे ही धागों से कपड़ा बनता है तो कपड़े के आरंभक उपादान धागे हैं। परिणामी उपादान वह होता है जो स्वयं बदलकर कार्य बन जाये जैसे दूध स्वयं दहीरूप में परिवर्तित हो जाता है अतः दही का परिणामी उपादान दूध है। दूध बदलकर दही बनता है, अतः जैसे मकान तोड़कर ईंटें मिल जाती हैं या कपड़ा उधेड़कर धागे मिल जाते हैं ऐसे दही से दूध

वापस नहीं मिल सकता। क्योंकि कारण परिणत होता है, बदलता है इसीलिये उसे परिणामी कहते हैं। विवर्तोपादान वैसा कारण है जिससे *वास्तव* में कार्य नहीं उत्पन्न होता, केवल *प्रतीत* होता है; जैसे भ्रमसिद्ध सर्प के प्रति रस्सी विवर्तोपादान है क्योंकि यद्यपि सर्प वास्तव में तो उत्पन्न नहीं हुआ तथापि प्रतीति यही होती है कि 'रस्सी के कारण साँप दीखा'। यों तीन तरह के कारण प्रसिद्ध हैं अतः जिज्ञासा होती है कि आत्मा संसार का कैसा कारण है ?

आत्मा क्योंकि एक ही है, अद्वितीय है, निरवयव है इसलिये यह आरंभक होना संगत नहीं क्योंकि आरंभक वे ही होते हैं जो अनेक हों जैसे बहुत-सी ईंटें और उनसे भिन्न गारा आदि सब मिलें तब मकान बनता है या कई धागे हों तो कपड़ा बनता है। जहाँ कहीं एक ही लम्बे धागे से कपड़ा बनता है या एक ही शिला में मकान बनता है वहाँ भी धागा, शिला आदि सावयव होते हैं, उस अवयव-भेद से ही वे आरंभक कारण बनते हैं। आत्मा अद्वितीय भी है, निरवयव भी, अतः ऐसा कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार नित्य और अविकारी होने से वह परिणामी भी नहीं हो सकता। यदि आत्मा जगत् का परिणामी कारण होता तो जैसे दही बन जाने पर दूध नहीं रह जाता ऐसे जगत् बन जाने पर आत्मा भी न रहता! जबकि है आत्मा नित्य। अतः वह परिणामी उपादान भी नहीं है।

आत्मा जगत् का विवर्तोपादान है जैसे सर्प के प्रति रस्सी। रस्सी अपने स्वरूप को किंचित् भी छोड़ती नहीं, किन्तु सर्प दिखलाई देती है। सचमुच बिना बदले ईश्वर संसार रूप में दृष्टि-गोचर होता है। विवर्तवाद में परमेश्वर अपने रूप को नहीं बदलता है। इसमें परिणामवाद के दोष की आशंका नहीं और न आरंभ-वाद का दोष है। जब पाप नष्ट हो जावें तब साधक परमेश्वर को पकड़ेगा, कल्पित संसार को नहीं पकड़ेगा। अधिष्ठान का ज्ञान हो जाने पर अध्यस्त की निवृत्ति हो जाती है जैसे रस्सी देखकर न साँप और न साँप का भय रह जाता है। ऐसे ही आत्मज्ञान से शोक

की निवृत्ति होती है क्योंकि आत्मा अधिष्ठान और जगत् अध्यस्त है जैसे रस्सी अधिष्ठान और साँप अध्यस्त होता है। सर्प के कण-कण में रस्सी व्याप्त है, ठीक इसी प्रकार संसार के कण-कण में परमेश्वर व्याप्त है। भ्रम से नाम-रूप को सुन-देख रहे हो किन्तु सचमुच में ब्रह्म ही है, जैसे भ्रम से साँप दीखने पर भी सचमुच रस्सी ही होती है। अतः आत्मा सदा हमारे अत्यंत सन्निकट है, साक्षात् अपरोक्ष है, हमेशा हम उसे ही जान रहे हैं पर भ्रम से उसे संसार समझ रहे हैं। उसके ही स्वरूपभूत ज्ञान से समस्त वस्तुयें प्रकाशित हैं। जैसे जब सूर्य चमकता है तभी रूपों का ज्ञान होता है वैसे ही जब तक आत्मा का संबंध न हो तब तक कोई ज्ञान नहीं होता। अत्यंत समीप होने के कारण हमें आत्मा का पता नहीं चलता है ! कण-कण में आत्मा का ज्ञान है; किन्तु पास में होने पर भी परमात्मा का ज्ञान नहीं, जैसे सब कुछ देखते हुए हम इससे बेखबर रहते हैं कि हम रोशनी को देख रहे हैं ! भगवान् जानते हैं—चीज़ को कहाँ छिपाना चाहिये !

एक सेठ हीरा, माणिक एवं बहुमूल्य वस्तुयें छिपाकर रखते थे। एक बार सेठ जी काशी से मगध देश को जा रहे थे; उन्होंने हीरे जवाहिरात एक गठरी में बाँध लिये और यात्रा पर चल दिये। एक ठग उनके साथ हो लिया। रात्रि में जब सेठ सो गये तो उन्हें उस ठग ने कुछ सुँघा दिया। फिर उनकी तलाशी ली; किन्तु कुछ द्रव्य हाथ न लगा ! सुबह सेठ जी उठे, स्नानादि किया, भगवत्-पूजा की। जब ठग सोकर उठा तो उसने सेठ जी को अशर्फियाँ गिनते देखा। दूसरे दिन अगले पड़ाव पर फिर रात्रि को उसने सेठ जी को कुछ सुँघा दिया और फिर वही क्रिया दस बारह दिन तक होती रही; किन्तु ठग सेठ जी के बहुमूल्य हीरे जवाहिरात को प्राप्त करने में असफल रहा। मगध देश में पहुँचने पर ठग ने सेठ जी के चरण पकड़ लिये और सारा तलाशी लेने का वृत्तान्त सुनाया। उसने कहा "आप केवल इतना बतला दीजिये कि रात्रि को सोते समय आप

जवाहिरात कहाँ छिपा कर रखते थे ?'' सेठ ने कहा 'यदि तुम प्रतीज्ञा करो कि ''अब जीवन में किसी को नहीं ठगूँगा'', तो मैं सारा भेद बतला सकता हूँ।' ठग ने सेठ जी के सामने प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् सेठ जी ने बतलाया कि ''मैं अपनी गठरी तेरे तकिये के नीचे रख देता था, प्रातः काल मैं उसे निकाल लेता था !''

इसी प्रकार भगवान् पुराने सेठ हैं :—

''ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।''

शरीर से इंद्रियाँ पास, उनसे भी पास मन और अन्तःकरण से भी पास आत्मा है। थोड़ी- सी ही आड़ है—बुद्धि की। अतः उसका पता लगाना कठिन है। वेद के अन्दर दृढ निश्चय, बार-बार विचार तथा सत्संग से परमात्मा का पता लगता है। जब तक चित्त के अनेकता-संबंधी, भेद-संबंधी, द्वैत-संबंधी भ्रम रहेंगे तब तक मोह-जाल में फँसकर कामनापूर्ति के लिये भोगों में ही संलग्न व्यक्ति केवल नरक ही भोगता रहेगा। भगवान् ने कहा है—

''अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।''

शुद्ध, सूक्ष्म, एकाग्र बुद्धि वाले लोग ही सर्वत्र आत्मा का दर्शन करते हैं। सत्संग के द्वारा निश्चय करो और जब निश्चय हो जावे तब ढूँढना पड़ेगा। तत्पश्चात् अधिष्ठान कारणरूप आत्मा का ज्ञान होगा, बुद्धि के अन्दर, अन्तरात्मा में ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार होगा।

शंका होती है कि प्रकृति को ही जगत् का उपादान कारण क्यों न मान लें ? समाधान है कि सुव्यवस्थित कार्य बिना चेतन के प्रयत्न के संभव नहीं, अतः अकेली प्रकृति तो कारण हो नहीं सकती और जब ईश्वर को कारण मानना ही है एवं घड़े आदि में गंध की तरह सारे संसार में अस्ति-भाति-प्रिय उपलब्ध हैं तथा

शास्त्र कह रहा है कि 'ईश्वर ही जगत् बना', तब यही स्वीकार करना सुसंगत है, प्रकृतिकारणवाद संगत नहीं। प्रकृति या माया जड है, उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं। वह ईश्वर की शक्ति है जैसे अग्नि और उसकी जलाने की शक्ति होती है। शक्ति और शक्तिमान् में *भेद* नहीं होता। अग्नि *और* जलाने की शक्ति—यह व्यवहार समझने के लिये ही है। माया परमेश्वर की शक्ति है। मायाधीश से मायारूपी शक्ति अलग नहीं है। सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर है। जब कहते हैं 'अग्नि की शक्ति से जला' तब अर्थ है कि अग्नि से जला। इसी प्रकार समझाते हैं कि ईश्वर माया के द्वारा सृष्टि की रचना करता है। 'मैं बहुत बन जाऊँ' यह चाह कर परमेश्वर ही जगत्-रूप में बन गया। यद्यपि वह अजायमान ही रहा क्योंकि विवर्तोपादान है।

एक ही ईश्वर सारे प्राणियों में छिपा हुआ है; वही सबके अन्तःकरण में प्रकाशित है। वह चैतन्यरूप, सबका साक्षी, सारे गुणों से रहित, सारे प्राणियों का अधिष्ठान एवं सर्वव्यापी है। शक्ति स्वतंत्र नहीं अपितु परमेश्वर के अंदर ही निहित है क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् में तादात्म्य होता है। वास्तविक अभेद मिटाये बिना भेदव्यवहार को संभव करने वाले का नाम तादात्म्य है। आत्मा जगत् का कारण है; वह यहाँ व्याप्त है जैसे घड़े में मिट्टी व्याप्त है। परमेश्वर दिखाई देता है; किन्तु भ्रान्ति से हम उसे देख नहीं पाते, उसके स्वरूप को समझ नहीं पाते हैं। उसका रूप क्या है ? कलकत्ते में दिवाली के अवसर पर शक्कर से तिमंजिले मकान-खिलौने-हाथी-घोड़े बताशे इत्यादि बनाये जाते हैं। सारी चीज़ों का कारण शक्कर एवं सब में मिठास भी शक्कर का ही होता है। बच्चा खेलता है तो आदमी, घोड़ा, मकान सबको अलग-अलग मानता रहता है पर जब खिलौने की टाँग टूट गई, मकान की मंजिल गिर गई तो उस खाँड की टाँग तथा ध्वंसावशेष को चाय में डाल देते हैं ! इसी प्रकार सारे भेदों वाला जगत् केवल कल्पनामात्र है। यहाँ ज्ञान-दृष्टि से देखना पड़ेगा कि सत्ता सब में

व्याप्त है। घड़ा-मोटर-लड्डू-पेड़ा संसार के भाव-पदार्थ हों अथवा अभाव पदार्थ हों; किन्तु 'है' का संबंध सबसे रहेगा ही—'घड़ा है, घटाभाव है।'

सत्ता सर्वत्र प्रसिद्ध है। संसार का कारण सब में व्याप्त होना चाहिये। 'अस्ति' है सबमें 'आत्मा' का रूप है। इसी को सत्य कहते हैं। जो बात बदल जाय वह झूठी है और जो बात न बदले वह सच्ची है। घड़े का रूप बदल जाता है। कपड़े में से सूत निकाल लिया तो उसका रूप बदल गया। सारी वस्तुओं का रूप बदल जाता है; किन्तु 'है-पना' कभी नहीं बदलता। यही आत्मा है।

युक्ति से पता लगता है कि आत्मा सर्वभेदशून्य है। तीन प्रकार के भेद होते हैं (१) स्वयं अपने अवयवों से खुद में भेद जैसे हाथ-पैर आदि का शरीर से भेद है। इसे स्वगतभेद कहते हैं। (२) अपनी जाति वाले पदार्थों से भेद, जैसे गायों का आपसी भेद। यह सजातीय भेद कहा जाता है। (३) अपनी अपेक्षा भिन्न जाति वालों से भेद, जैसे साँप का नेवले से भेद। यह विजातीय भेद है। आत्मा त्रिविध भेदों से रहित है। यह बात सत्ता में स्पष्ट है—उसमें स्वगत भेद नहीं क्योंकि उसके कोई अवयव नहीं। उसमें सजातीय भेद नहीं क्योंकि सत्ता एक अखण्ड है, उसकी कोई *जाति* ही नहीं। सत्ता में विजातीय भेद भी नहीं क्योंकि उससे विजातीय तो असत् होगा अर्थात् नहीं होगा! एवं च सत्ता आत्मा ही है यह स्पष्ट हो जाता है।

परमेश्वर सभी अंतःकरणों में विद्यमान है। जिनका अंतःकरण शुद्ध है, उन्हें ही वह दिखलाई देता है। जिनके दोष नष्ट हो गये हैं और सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य का अनुसरण करते हैं उनको परमेश्वर की प्राप्ति होती है। सत्यादि को मिलाकर अथवा प्रत्येक को साधन समझ लो। सत्य परमात्मा का स्वरूप है। अतः समझ-बूझ से सत्य का प्रयोग करना चाहिये।

एक लकड़हारे को सौभाग्य से एक महात्मा के दर्शन प्राप्त

हुये। महात्मा के सत्संग से उसके मन में संस्कार की उत्पत्ति हुई। उसने महात्मा जी के पास जाकर अपने आत्मकल्याण के बारे में पूछा तथा अपना व्यवसाय बतलाया। महात्मा जी ने सोचा 'कोई सरल उपाय बतलाया जावे' अतः कहा—'भगवान् का नाम-उच्चारण करना, सत्य का आचरण करना, झूठ मत बोलना।' लकड़हारा वैसा ही आचरण करने लगा। उसका अंतःकरण शुद्ध हो गया और शान्ति की प्राप्ति हो गई।

एक दिन लकड़ी काटते समय उसकी कुल्हाड़ी उछलकर तालाब में गिरी। वह आर्त हृदय से प्रार्थना करने लगा 'हे भगवन् ! मेरी कुल्हाड़ी तालाब में गिर गई।' भगवान् भक्त को कसौटी पर कसते हैं। वरुण देवता प्रकट हुये; उन्होंने पहले एक हीरों की कुल्हाड़ी उसको दिखलाई और कहा 'यह तुम्हारी कुल्हाड़ी है ?' उसने कहा 'महाराज ! यह मेरी कुल्हाड़ी नहीं है।' फिर वरुण देवता ने उसको क्रमशः सोने और चाँदी की कुल्हाड़ी दिखलाई; किन्तु वह सत्यवादी था अतः उसने फिर कहा 'इनमें से कोई मेरी कुल्हाड़ी नहीं है।' अन्त में वरुण देवता ने उसकी लोहे की कुल्हाड़ी दिखलाई तो उसने पहचान कर कहा 'महाराज ! यही मेरी कुल्हाड़ी है।' वरुण देवता उसकी सच्चाई और ईमानदारी से बड़े प्रसन्न हुये और उसको बहुमूल्य सभी कुल्हाड़ियाँ देकर अन्तर्धान हो गये।

एक अन्य व्यक्ति भी इस घटना को देखकर उसी प्रकार लकड़ी काटने पेड़ पर चढ़ा और जान बूझकर अपनी लोहे की कुल्हाड़ी को तालाब में गिराकर प्रार्थना करने लगा; किन्तु उसके हृदय में बहुमूल्य कुल्हाड़ी झूठ बोलकर प्राप्त करने का लालच विद्यमान था अतः वह अपनी लोहे की कुल्हाड़ी भी गवाँ बैठा!

सत्य के आश्रय से सुख एवं असत्य के आश्रय से दुःख की प्राप्ति होती है। मुमुक्षु सत्य का ही अनुसरण करते हैं। सत्य है कि शरीर भी मेरा रूप नहीं, इन्द्रियाँ भी मेरा रूप नहीं, प्राण भी मेरा स्वरूप नहीं। आत्मा का परिज्ञान होते ही सर्वस्व की प्राप्ति हो

जाती है। परमेश्वर सारे पदार्थों में सत्तारूप से विद्यमान है। सत्यरूप आत्मा का ज्ञान न होने से ही शोक के पार नहीं जा सकता और सद्रूप आत्मा का ज्ञान पा लिया तो शोक से पार हो जावेगा।

आत्मा का ज्ञान होना बड़ा दुर्लभ है। नारद जैसे ऋषि को भी आत्मज्ञान बड़ी कठिनता से प्राप्त हुआ।

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥" (गीता २/२९)

इसका देखना भी आश्चर्य है, इसका कहना भी आश्चर्य एवं सुनना भी आश्चर्य ही है। जिसको देखकर मनुष्य स्तब्ध रह जावे उसे आश्चर्य कहते हैं। आत्मा ऐसा ही है—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और फिर उसमें अज्ञान रहता है ! वही ज्ञानरूप परमेश्वर शरीर में अज्ञ बन जाता है ! जो एक ओर सारे ज्ञान वाला परमेश्वर वही अज्ञानी हो रखा है ! ब्रह्मज्ञान बुद्धि में उत्पन्न होकर अज्ञान का नाश कर देता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है ! परमेश्वर की माया परमेश्वर ही समझ सकता है ।

आत्मा को मन नहीं देख सकता। आत्मा मन को जानने वाला है। ज्ञानेन्द्रियाँ जिसको जान नहीं सकतीं वही ज्ञान का विषय बन जाता है। परमेश्वर के विषय में जितना भी आश्चर्य करो उतना ही कम है। सर्वत्र होने के बावजूद अशुद्ध मन से परमात्मा जाना नहीं जाता है। शुद्ध मन से ही परमात्मा जाना जाता है। जैसे बिच्छू अपनी माता का पेट फाड़कर अर्थात् उसे मारते हुए पैदा होते हैं वैसे आत्मज्ञान अपने कारणभूत मन आदि अविद्या को नष्ट करते हुए ही उत्पन्न होता है। कई जगह कार्य अपने कारण के नाश का हेतु बनता है। आग और कपड़े के संयोग के प्रति कपड़ा कारण है और वह संयोग उस कपड़े के नाश का हेतु बनता है। इसी तरह मन की प्रमाणजन्य ब्रह्माकारवृत्ति मनोजन्य होने पर भी मन को

नष्ट कर देती है।

आत्मज्ञान आत्मविषयक अज्ञान को नष्ट करता है। शंका होगी कि पहले ही आत्मा इसको क्यों नहीं नष्ट कर देता ? *आत्मा* का अज्ञान से विरोध नहीं। *ज्ञान* का अज्ञान से विरोध है ! पड़ी हुई रस्सी सर्प को नष्ट नहीं करती। सर्प को नष्ट करने वाला रस्सी का ज्ञान है। आत्मा स्वतः अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता है। जब ब्रह्माकार वृत्ति बन जाती है तभी आत्मा अज्ञान नष्ट करने में समर्थ है। अतः बुद्धि सूक्ष्म करने के लिये अनात्म-पदार्थों को बुद्धि में से हटाना पड़ेगा। स्वर्ण-भस्म अच्छे सोने से ही बन सकता है, इसी प्रकार मन से दूषित विषय निकाल कर शुद्ध करना होगा। अज्ञान नष्ट तभी होगा जब मन अनात्म-पदार्थों की ओर बहिर्मुखी नहीं बनेगा।

जब परमेश्वर को जान लेता है तब वह परमेश्वररूप हो जाता है। अंतःकरण में से अनात्मपदार्थों को निकालने की आवश्यकता है। समुद्र की लहरें समुद्र के असली स्वरूप को नहीं देखने देतीं। इसी प्रकार संसाररूपी समुद्र में नाम-रूप से ब्रह्म-दर्शन नहीं होता है; उसके असली रूप का पता नहीं चलता है। हम लोग भोगों के प्रवाह में बहते रहते हैं, यह विचार नहीं करते कि भोग अत्यन्त चंचल, अस्थाई हैं। बाल्य-यौवन-प्रौढ अवस्थायें अविवेक में गँवा देते हैं, यह नहीं सोचते कि प्राण कब तक रहेंगे इसका कुछ पता नहीं। जिन संबंधों को असीम महत्त्व देते हैं, उनके लिये अकार्य भी कर देते हैं, वे ही मौके पर विपरीत हो जाया करते हैं। अतः जो विचारशील लोग हैं वे संसार को असार समझते हैं। जब तक तुम मृत्यु को नहीं छोड़ोगे तब तक तुम्हें मृत्यु नहीं छोड़ेगी! अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि मृत्यु के कारण को छोड़ दो! तो मृत्यु स्वयं तुम्हें छोड़ देगी।

एक बार भगवान् शंकर कैलास पर बैठे थे। शनि देवता आ गये; उन्होंने भगवान् शंकर से कहा "आप क्रोध न करिये। मैं

साढ़े सात वर्ष के लिये आपके पास आऊँगा।'' भगवान् शंकर ने कहा ''कुछ कम समय के लिये आओ।'' शनि देवता ने उत्तर दिया ''समय कम नहीं हो सकता।'' भगवान् शंकर ने कहा ''ठीक है।'' सोचा 'मैं भी इसके चक्कर में आने वाला नहीं हूँ।' उन्होंने पार्वती जी को उनके पिता के यहाँ भेज दिया, नंदी को पर्वत पर छोड़ दिया एवं गंगा, शशिकला, सर्प, बिच्छू इत्यादि का परित्याग करके दिगम्बर वेष धारण कर लिया और साढ़े सात वर्ष की समाधि लगा कर बैठ गये।

शनि आया और साढ़े सात वर्ष तक भगवान् शंकर की परिक्रमा करता रहा। जब भगवान् शंकर की समाधि खुली तो शनि साष्टाङ्ग दंडवत् करके कहने लगा 'महाराज ! जिन चीज़ों को मैं अलग करता, उन्हें आपने पहले ही अलग कर दिया तो मेरे करने लायक बचा ही क्या था !'

इसी प्रकार मृत्यु तुम्हारे शरीरादि को ही पकड़ती है। अगर विवेक से तुम इन्हें पहले ही छोड़ दो तो मृत्यु *तुम्हारा* कर क्या लेगी ? पुत्रादिका वियोग भी तुम्हें मृत्युतुल्य दुःख तभी देगा जब उन्हें अपना मानोगे। उनसे ममत्व हटा लो तो तुम्हें दुःख होगा कैसे?

आत्मा के ऊपर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय—ये पाँच कोश चढ़े हुये हैं; जो विवेकी हैं वे पंचकोष से इसे बाहर निकाल लेते हैं। अनात्म पदार्थ आत्माको छिपाये रहते हैं। दूध के झाग में वायु की भाँति संसार में छिपा हुआ आत्मा रहता है; झाग में हवा सम्मिलित रहती है किन्तु प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देती है। इसी प्रकार नाम-रूप में छिपे वास्तविक स्वरूप का पता नहीं लगता, यद्यपि वह परमात्म-स्वरूप है। जो अपने को परमेश्वर से भिन्न समझेगा वह उसको नहीं जानता है। आत्मा का सामान्य ज्ञान, नामरूप से मिला-जुला ज्ञान, अज्ञान को नहीं निवृत्त कर सकता, उसके भूम स्वरूप का, व्यापकता का ज्ञान ही अज्ञान

मिटा सकता है। याद रखना कि जड कभी अज्ञाननिवर्तक नहीं होता। मन की वृत्ति में यह ताकत नहीं कि वह अज्ञान को मिटा सके। अज्ञान को मिटाता तो आत्मा ही है पर तभी जब वह अखण्डाकार वृत्ति में उपारूढ होता है। दीखता है कि बस चल रही है जबकि सचाई है कि तेल उसे चला रहा है। तेल भी समर्थ भले ही है पर बस को ही चलाता है, लालटेन को नहीं चला सकता! ऐसे ही अज्ञान को नष्ट करेगा आत्मा ही पर अखण्डवृत्ति को माध्यम बनाकर। अखण्ड ब्रह्म का जैसा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-अपरिच्छिन्न आकार है वैसा ही आकार जब बुद्धिवृत्ति ग्रहण करेगी तब आत्मा उसके द्वारा अविद्या का बाध कर देता है। अतः अनात्मविषयों से मन हटाकर भूमस्वरूप का ज्ञान पाने से ही अज्ञान मिटकर शोक निवृत्त हो जाता है।

यह आत्मा असङ्ग है। आत्मा किसी के साथ संगति नहीं करता किन्तु हम सबको सब से संग करता भासता है। 'मैं बंधन में हूँ।' 'मैं मुक्त हो जाऊँगा', यों 'मैं' को सब पदार्थों से अनुगत मानते हैं। किसी पदार्थ की सिद्धि के लिये अनुभव ही अंतिम प्रमाण है। अनुभव कहता है कि केवल जैसा लिखा वैसा नहीं मान सकते। किसी ने कहा कि अमुक डाक्टर की दवा 'राम बाण' का काम करती है। उदरशूल का कष्ट है। रोगी उस के पास जाता है। वह रोग का निदान करता है और एक घंटे में ठीक हो जाने का वचन देता है। रोगी दवा का प्रयोग करता है। एक, दो, तीन घंटे व्यतीत हो गये; दर्द कम नहीं हुआ। अनुभव है कि 'बड़ा कष्ट भोग रहा हूँ। दवा से अभी थोड़ा भी आराम नहीं हुआ।' रोगी को दर्द हो रहा है; वही अनुभव प्रमाण है। चाहे जैसी प्रामाणिक पुस्तक में लिखा रहे कि वह दवा एक घंटे में रोग मिटा देती है, रोगी को कष्ट रहते उस पुस्तक की बात मानी नहीं जायेगी। रोगी का अनुभव ही प्रबल है। इसी प्रकार हमारे अनुभव से आत्मा संसारी सिद्ध हो रहा है। यदि सहस्रों श्रुतियाँ कह दें कि अग्नि ठंडी है तो

वह ठंडी नहीं कही जा सकती है ! अनुभव का विरोध होने से आत्मा असंसारी नहीं हो सकता। ऐसे ही आत्मा को जन्म-मरण का भोग करने वाला मानना पड़ेगा।

जब तक हम वह अनुभव नहीं प्राप्त कर लेते जिसे शास्त्र कह रहा है तब तक शास्त्र की सुनी-सुनायी बात अर्थात् परोक्ष ज्ञान न आत्मा की ससंगता दूर करेगा और न जन्म-मरण से छुटकारा दिलायेगा। डाक्टर की तो समझ में ग़लती हो सकती है पर वेद परम प्रमाण है, उसकी कोई बात कभी गलत नहीं हो सकती। भेदवादी शास्त्र की अपेक्षा अपनी बुद्धि को महत्त्व देते हैं अतः कहते हैं कि अकर्ता-अभोक्ता जिसे वेद कहता है वह परमेश्वर अलग है और कर्ता-भोक्ता हम जीव अलग हैं ! जबकि वेद स्पष्ट अनेक जगह तात्पर्यपूर्वक घोषित करता है कि जीव-ईश्वर में कोई भेद नहीं है। अतः वेद पर श्रद्धा रखने वाले तो वेदार्थ सत्य है—ऐसा जानते हुए अपने अनुभव की परीक्षा करते हैं और उस विवेक से यह समझ जाते हैं कि उपाधियों से स्वतन्त्र चिदात्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-शोक-संग आदि संसार-धर्मों से अतीत है। यह दृढ स्वानुभव प्राप्त होने पर्यन्त साधना करते रहना चाहिये।

इसके विषय में तर्क नहीं वरन् श्रद्धापूर्वक युक्ति-अनुसंधान करना पड़ता है। ब्रह्मनिष्ठ से अन्य यदि उपदेशक हो तो यह आत्मतत्त्व समझाया नहीं जा सकता। बार-बार मनन कर लेने के पश्चात् ही उसका ज्ञान हो सकता है। ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त और कोई इसे समझा नहीं सकता है। एकाग्र चित्त से ही श्रवण करने के पश्चात् उसका ज्ञान होना संभव है। ध्यान अन्यत्र जाने पर कुछ भी समझ में नहीं आता है, जब सांसारिक विषयों में भी यह हालत है तो इस सूक्ष्म विषय का क्या कहना ! ब्रह्मज्ञान तर्कप्रधान विषय नहीं है। शास्त्रों के पढ़ लेने मात्र से इसका ज्ञान संभव नहीं है। चाहे जितना बढ़िया नाचना गाना आ जावे किन्तु उससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं—भोग भले ही प्राप्त हो सकते हैं। पानी पर नहीं चल

सकते। उसी प्रकार तर्क पर चलने वाले के पैर नहीं ठहरते—युक्ति प्रबलतर युक्ति से खंडित हो जाती है और इसका अन्त नहीं, अनन्त काल तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी। अतः तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं। अगाध समुद्र के अन्दर भटककर डूबते मनुष्य को पता नहीं पृथ्वी किधर है; जो नौका में बैठा हुआ है वही उसे पार ले जा सकता है। ठीक उसी प्रकार संसारी जीव अपनी बुद्धि से तर्क द्वारा उस परमात्मा को सिद्ध करना चाहे तो वह नहीं कर सकता है। खंडन-मंडन अभी तक समाप्त नहीं हुये और न भविष्य में समाप्त होंगे। वेद में जो प्रतिपादित बातें हैं उनके अनुकूल युक्तियाँ सोच लेनी चाहिये। तलवार का प्रयोग दुश्मन को काटने के लिये होना चाहिये, न कि अपनी गर्दन काटने के लिये ! क्योंकि तब तो आधार ही नष्ट हो जावेगा। शुष्क तर्क की आवश्यकता सांसारिक व्यवहारों में भी नहीं तो परमात्मा-संबंधी बातों में वह ठीक सिद्ध नहीं हो सकता इसमें क्या संदेह।

यदि केवल अनुभव को ही सत्य मानोगे तो एक बालिश्त-भर का सूर्य और तारे बिन्दु जितने मानने पड़ेंगे ! जब कि एक-एक तारे में करोड़ों पृथ्वी समा जावें ! तारों के विस्तार का क्या ठिकाना ! पृथ्वी चौकोर दृष्टिगोचर होती है; किन्तु विद्वान् उसे गोल कहते हैं। केवल अनुभव को प्रमाण मान लेना भी ठीक नहीं है। 'मैं' के साथ आत्मा में पुरुषत्व, स्त्रीत्व, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि न मानने में संसार की सारी व्यवस्था समाप्त हो जावेगी। यदि आत्मा में वे धर्म नहीं हैं, तो मनुष्य पाप-पुण्य में नहीं बँधेगा। लोग यथेच्छाचारी हो जावेंगे। धर्म का सहारा लेकर ही मनुष्य परमात्मा को जान सकता है। अतः अनुभवानुसारी, व्यवस्था-संरक्षक और कल्याणप्रद होने से आत्मा का कर्तृत्वादि मान्य लगता है किन्तु जब शास्त्रविचार करते हैं, विवेकपूर्ण अनुभव करते हैं तब उसका अकर्तृत्व आदि स्पष्ट होता है। श्रुति ही आत्मा को ठीक-ठीक बतला सकती है। यदि आत्मा संसारी है तो जन्म-मरण का चक्कर

समाप्त नहीं होगा। यदि राग-द्वेष जीवात्मा के धर्म हैं तो वे कभी दूर नहीं हो सकते हैं। जैसे वैद्य शास्त्रोक्त औषधि के प्रयोग से उसकी लाभकारिता समझकर तदनुकूल युक्ति का अनुसंधान करता है उसी प्रकार मुमुक्षु को चाहिये कि शास्त्रोक्त साधनानुष्ठान से आत्मसाक्षात्कार कर तदनुकूल युक्तियाँ भी सोचे। न केवल शास्त्रीय ज्ञान, और न केवल अपरीक्षित अनुभव मोक्ष के लिये पर्याप्त हो सकता है।

विरोचन और ब्राह्मण युवक सुधन्वा में बड़ी मित्रता थी। एक बार दोनों एक ही स्त्री पर आसक्त हो गये। स्त्री और धन प्रेम को तोड़ने वाली वस्तु हैं। दोनों में झगड़ा हो गया। दोनों ने निर्णय लड़की पर छोड़ा कि वह पसंद कर ले। लड़की ने कहा "तुम दोनों में से जो श्रेष्ठ है मैं उसे चुनती हूँ। किन्तु श्रेष्ठता का निर्णय मैं नहीं कर सकती क्योंकि मैं अभी छोटी हूँ; किसी पंच से फैसला करवा लो।" सुधन्वा भक्त ठहरा। वह कहने लगा "प्रह्लाद से फैसला करवा लो।" विरोचन यह सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा "एक प्रतिज्ञा है, जो हार जावे; उसकी गर्दन काट दी जाये।" दोनों प्रतिज्ञाबद्ध हो गये और प्रह्लाद के समक्ष निर्णय के लिये पहुँचे। प्रह्लाद सुनकर स्तब्ध रह गये। देवता भी इस निर्णय को देखने के लिये आ गये। प्रह्लाद ने विचार किया कि विरोचन को श्रेष्ठ बतलाने में धर्म की गर्दन कट जावेगी जो अनर्थकारी होगा। अतः कहा–'विरोचन ! सुधन्वा ब्राह्मण योगी है और तू भोगी है। तेरे में आसुरी सम्पत्ति, इसमें दैवी संपत्ति है। जाति, कुल, शील, ज्ञान सभी दृष्टियों से सुधन्वा ही श्रेष्ठ है।' विरोचन का मुख पीला पड़ गया। देवता बड़े प्रसन्न हुये कि प्रह्लाद ने विकट परिस्थिति में भी धर्म का पक्ष ग्रहण किया। प्रह्लाद की धर्मनिष्ठा को देखकर सुधन्वा ने स्वयं ही कह दिया "मुझे विवाह नहीं करना है। मुझे केवल धर्म ही देखना था और विरोचन की भी गर्दन न काटी जाये, शर्त का वह प्रावधान भी मैं समाप्त करता हूँ।"

इसी प्रकार ब्रह्मविद्यारूप लड़की की ओर द्वैतवादीरूप विरोचन और अद्वैतवादीरूप सुधन्वा दोनों आकृष्ट होते हैं। औपनिषद महान् अस्त्र जो धनु, उसका सहारा लेने वाला ही सुधन्वा है। ब्रह्मविद्या का फल जो असीम स्वातंत्र्य वह दोनों को आकृष्ट करता है पर श्रेष्ठ को ही वह विद्या मिल सकती है। श्रेष्ठता का निर्णय प्रह्लाद अर्थात् भूमा आनंद से ही होगा। द्वैतदृष्टि भेदनिष्ठ होने से परिच्छिन्न को ही मान्यता देती है, व्यापक भूमा को नहीं। द्वैती राग-द्वेषादि आसुर संपत्ति से भी ग्रस्त रहते हैं। अविचार से ही द्वैत दृष्टि उपजती है। द्वैत के कुल में भी अविद्या-अस्मितादि निकृष्ट ही वस्तुएँ हैं। द्वैती सर्वत्र भेद स्थापित करता है अतः शील से भी नीच है। इस प्रकार प्रह्लाद निर्णय कर देता है कि अद्वैतवाद ही श्रेष्ठ है। इसी के अनुसार शास्त्र का अर्थ हृदयंगत करने से ब्रह्मविद्या मिल जाती है, मोक्ष हो जाता है। अद्वैत कृपालु है अतः द्वैत की गर्दन नहीं काटता ! प्रारब्धपर्यन्त द्वैत जैसा चाहे वैसा उपलब्ध होता रहे, अद्वैत को उससे कोई विरोध नहीं। सत्य का निर्णय ही अभीष्ट है, द्वैत से कोई दुश्मनी नहीं।

आत्मा का स्वरूप क्या है--यह विवेकपूर्ण ज्ञान से ही पता चलेगा। ज्ञान के स्वरूप को समझ लेने के द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है। प्रमाण द्वारा पदार्थ के अनुभव अर्थात् विषयों के ज्ञान को ही मनुष्य ज्ञान मानता है। सूर्य के द्वारा घट प्रकाशित है। घट बाद में देखने में आता है, पहले रोशनी दीखती है क्योंकि घट के चारों ओर प्रकाश है ! मनुष्य यह विचार नहीं करता। घट के चारों ओर यदि प्रकाश नहीं होता तो कभी भी उसे जान नहीं सकते थे। असली प्रकाश सारे पदार्थों से अलग है। सभी पदार्थों को देखने के लिये विचार की आवश्यकता है। हमें पदार्थों का अनुभव है, उसी में पदार्थांश छोड़ कर अनुभवांश पर एकाग्र होने से ज्ञान का स्वरूप समझ आ जायेगा जिससे आत्मा भी पता चल जायेगा। अनुभव केवल मनोवृत्ति नहीं क्योंकि मन पांचभौतिक

अतः जड है। अत एव जड अन्नसे वह नियन्त्रित भी है। भजन करने में मन नहीं लगता क्योंकि भोजन पर नियंत्रण नहीं है। जैसा अन्न खाओगे; वैसा ही मन बनेगा।

एक शिष्य ने पंद्रह दिन का उपवास किया। निराहार एकादशी का एक दिन का व्रत बड़ा कठिन होता है; फिर, वह तो पंद्रह दिन तक निराहार रहा ! कृष्ण पक्ष की अमावास्या बीत गई; तब गुरु ने बुलाया, बड़ा क्षीणकाय होकर आया। उसे उच्च स्वर से वेदोच्चारण करने को कहा। वह सारी ऋचाएँ भूल गया था। भूख के कारण कुछ भी याद नहीं था ! तत्पश्चात् गुरु जी ने उससे भोजन करने को कहा। जब भोजन करके वह तृप्त हो गया तब वैदिक वाक्य अच्छी तरह सुनाये। याद रखना मन का धर्म है; फिर उसे क्यों नहीं याद रहा? कारण है कि पंचमहाभूतों (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश) से मन की उत्पत्ति होती है। भूख से मन कमज़ोर हो जाता है।

मन भी भौतिक जड पदार्थ है। अतः मन किस प्रकार पदार्थों को जान सकता है ! मन को किसी और स्थान से ज्ञान-शक्ति मिलती है। बढ़िया तार में शक्ति नहीं है; किन्तु वही तार झटका देता है जब उसमें बिजली हो। इसी प्रकार मन को शक्ति देने वाला कोई और है। अंतःकरण में रहने वाला एक आत्मतत्त्व सब में प्रकाशित होकर शक्ति देता है। उसे जानकर आत्मतृप्ति हो जाती है। इसीलिये भगवान् ने गीता में बताया कि मुझ आत्मवस्तु से परे कुछ नहीं है। धागे में मणियों की तरह जो कुछ भी विषयरूप से प्रतीत होता है वह मुझ आत्मतत्त्व में ही प्रतिष्ठित है।

संसार के अंदर जितने ज्ञान हैं वे परमात्मा के ज्ञान के ही सीमित संस्करण हैं। सूर्य का प्रकाश नित्य है, पृथ्वी सूर्य के सामने है तो प्रकाशित हो जाती है अन्यथा अंधकारग्रस्त रहती है। सूर्य अपने स्वरूप से रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्मज्ञान नित्य एक स्वरूप से प्रकाशित रहता है। मन आत्मा के प्रकाश के द्वारा ही

जानता है। प्रलय काल में समस्त लय होने पर भी परमात्मा रहता ही है। वही ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप को जानने से ही संसार की निवृत्ति हो सकती है।

लौकिक जीवन तो मिलते ही रहते हैं। मानव जीवन में ही इस नित्य ज्ञान की प्राप्ति संभव है। सांसारिक पदार्थों में वस्तुतः कुछ भी प्राप्ति नहीं होती। आत्मा को छोड़कर पदार्थों के ज्ञान की प्राप्ति में कुछ सार नहीं। असली वस्तु को छोड़कर छोटी वस्तु में फँस जाना मूर्खता ही है। रेतीली नदी के किनारे के वृक्ष की भाँति मानव शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। जो पहले आये, वे चले गये, जो साथ आये वे चले गये, फिर भी हम आशा रखते हैं कि हम बने रहेंगे!

भोग अवश्य जाने हैं, कभी तुम्हारे पास सर्वदा नहीं रहेंगे। जब जानता है कि ये रहने वाले नहीं तो उन्हें पहले ही क्यों न छोड़ दे? यदि ये अपनी स्वतंत्रता से जायेंगे तो चित्त को महान् कष्ट होगा। जेब से रुपये निकल जावें तो मन को बड़ा दुःख होता है और यदि वही रुपये धर्म-कार्य में स्वयं लगा दिये हों तो मन में बड़ी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार यदि इन भोगों को स्वयं छोड़ दोगे तो अनन्त सुख की प्राप्ति होगी और शान्ति मिलेगी। जब मनुष्य यह जान लेता है तो फिर इस चक्र में नहीं फँसता है। अनात्म-पदार्थों में प्रेम उल्टे रास्ते लगाता है। तिलों को तेली कोल्हू में तब तक पेरता है जब तक उनमें तेल रहता है। इसी प्रकार काल रूपी तेली जन्म-मरण के कोल्हू में विषय-स्नेह रहते ही तुम्हें पेरता रहेगा! संसार में प्रेम छोड़ना तभी संभव है जब ईश्वर में विश्वास हो कि उसे तुम्हारी चिन्ता स्वयं ही है। जब सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर स्वयं तुम्हारी व्यवस्था कर रहा है तो तुम्हें क्या चिन्ता? जब वह विश्व भर को खिलाता है, भरण पोषण करता है तो तुम्हें भी खिलायेगा। बच्चे ने कौन-सा प्रयत्न किया? उसकी उत्पत्ति बाद में होती है किन्तु माता के स्तनों में दूध प्रथम ही आ जाता

है!

एक व्याध जंगल में गया। उसने एक बड़े भयंकर जंगली सूअर को बाण मारा। वह घायल हो गया किन्तु मरा नहीं। वह झपटा। दूसरा बाण छूटने ही वाला था, कि सूअर ने रौंद कर व्याध को मार डाला; तत्पश्चात् सूअर भी मर गया। फिर एक गीदड़ वहाँ आया, सोचा "विश्वम्भर ने बड़ा अच्छा किया।" वह बड़ा प्रसन्न हुआ कि एक पुरुष और एक सूअर मरा हुआ पाया। उसके हृदय में लोभ का समावेश हुआ। थोड़ा-थोड़ा खाने की इच्छा करके प्रत्यंचा की ओर से खाने की चेष्टा करते ही बाण छूटा; उससे गीदड़ की मृत्यु हो गई। लोभ ने इसी भाँति संग्रह करने का लालच मनुष्य में भी भर दिया है। उसे अपना ज्ञान नहीं है। लोहे में लोहे की गर्मी नहीं—अग्नि की गर्मी होती है। इसी प्रकार संसार में आत्मा का ज्ञान है, शरीर में चेतना आत्मा की ही है। और आत्मा का ही सुख प्रपंच में प्रतिफलित हो रहा है। जब तक जीव नानात्व देखता रहेगा तब तक उसे तृप्ति नहीं होगी। ज्ञान को समझ कर ही शोक की निवृत्ति होगी। इसके लिये अनात्म-पदार्थों का त्याग करना आवश्यक है।

अंतःकरण की शुद्धि

लौकिक और शास्त्रीय कर्म की मर्य्यादा को समझ लेने के पश्चात् आत्म-ज्ञान आवश्यक है। बिना आत्म-ज्ञान के शोक समुद्र के पार नहीं जा सकते। संसार रूपी दुःख से निवृत्ति आत्म-ज्ञान द्वारा ही हो सकती है। स्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति के बिना महान् विनाश है। आत्म-ज्ञान मानव शरीर में ही सुलभ है। मनुष्य जीवन का प्रयोजन आत्मज्ञान की प्राप्ति एवं दुःख का निवारण है। इसके लिये प्रथम अंतःकरण की शुद्धि आवश्यक है। मल और विक्षेप—दो बड़े दोष दूर न कर दिये जावें तब तक आत्मज्ञान असम्भव है।

पुराने किये हुये कर्म की वासनायें मल हैं। एक ही कपड़ा

महीनों तक पहनते हैं। प्रतिदिन स्नान करते हैं तो कपड़े धोते हैं पर उससे ऊपरी मैल निकल जाता है; किन्तु धोने के पश्चात् भी थोड़ा मैल रह जाता है। वही अंश वासना के नाम से कहा जाता है। कुछ दिन के पश्चात् कपड़ा पीले रंग का (मैला) हो जाता है। इसी प्रकार बार-बार पाप करने से वासना ने अंतःकरण को मैला कर दिया है। ऐसे अशुद्ध अंतःकरण में परमेश्वर नहीं रह सकता है।

एक बार यूनान देश में कपड़े की बड़ी कमी थी। लोग बड़े कष्ट में थे। अमरीकी फौजें वहाँ पड़ी हुई थीं। बड़े-बड़े लोगों को एक भोज दिया गया। यूनानी लोग 'ओवर कोट' पहने हुए आये थे। इस प्रकार की प्रथा है कि जब भोजन किया जाता है, तब ओवर कोट उतार दिये जाते हैं; किन्तु यूनानी ओवर कोट पहने ही खाने पहुँचे क्योंकि अंदर के कपड़े गंदे तथा फटे हुये थे। बेचारे अपमान के डर से उन्हें छिपाये रहे; मैला कपड़ा पहने बड़े आदमियों में बेइज़्ज़त होने का डर था। इसी प्रकार मैले मन वाले लोगों को परमेश्वर के यहाँ नहीं जाने दिया जाता है। अतः अंतःकरण का शुद्ध होना आवश्यक है।

विषयरूप संसार काजल-स्वरूप है। विषयों से सम्बन्ध होना ही मल का लगना है। मन के विषयों को बाहर निकाले बिना स्वच्छता कहाँ ? इन्द्रियों को आसक्ति की ओर से नहीं हटाया तो मन की शुद्धि नहीं है। इसका अर्थ इन्द्रियों को नष्ट कर देना नहीं।

अजातशत्रु का समस्त संसार में राज्य था; उसको बड़ा घमंड था। सामान्य कर्मचारी से लेकर अफसर तक गर्व रखते थे। वह एकछत्र राजा एक दिन प्रसन्नता से अपने बगीचे में टहल रहा था; उसी समय नारद जी वहाँ आ गये। उन्होंने पूछा, "आप बड़े प्रसन्न हैं, क्या कोई नई बात है ?" वह बोला 'मैं संसार का एकछत्र राजा हूँ। अब किसी नये ग्रह-उपग्रह पर आक्रमण करूँगा।' नारद जी ने कहा 'अभी तुम ने पृथ्वी को कहाँ जीत लिया।' वह

बड़ा क्रोधित हुआ। नारद ने कहा "यदि भोजन में नमक नहीं हो तो क्या करते हो ? जीभ-आँख-नाक-कान इत्यादि पर अभी तक तुम विजय नहीं कर सके। ये तुम्हें नचाया करते हैं। अपने घर में बैठे हुये इन शत्रुओं को तो जीत लो।" उसने कहा "मैं उपाय कर लूँगा।" नारद जी वहीं ठहर गये। दूसरे दिन उसने समस्त फौज बुला ली। सब चिन्तामग्न हो गये। आँख-कान-नाक इत्यादि शत्रुओं को समाप्त करने की आज्ञा दी। फिर बुद्धि से सोचा—"इन्द्रियों को नष्ट करने से इन्द्रियों पर विजय नहीं होगी।" फौज वापस भेज दी। फिर बड़ा दुःखी हुआ और आकर बैठ गया। नारद जी पास में गये और कहा "बड़े चिन्तित प्रतीत होते हो।" उसने पूछा "आपने जो शत्रु बतलाये उन पर किस प्रकार विजय की जावे ?" अब उसका गर्व ठंडा पड़ गया। फिर उन्होंने उसे उपाय बतलाया।

आँख को फोड़ कर अथवा मार डाल कर *जीतना* नहीं होता। पहले देखे हुये रूपों का चिन्तन करते रहोगे तो कभी विजय प्राप्त होना संभव नहीं। इन्द्रियों को नष्ट कर देने से संन्यास का अधिकार नहीं। अंगभंग वाला संन्यासी नहीं बन सकता है, शास्त्रकारों ने उसे अधिकार नहीं दिया। अतः इन्द्रियों का नियंत्रण करे, उन्हें रोके। ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण होता है। जहाँ इन्द्रियों को लगाना है, वहीं लगावे। आँख भगवान् का दर्शन करने के लिये, प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिये है, अनुचित वस्तुओं को देखने के लिये नहीं। इसी प्रकार भगवत्-कथा सुनना कानों का काम है, अन्यथा वे सर्प के बिल के समान हैं। विचारपूर्वक भगवद्विषयक वार्ता सुननी चाहिये।

कपड़े को साबुन लगाकर साफ किया जाता है। ठीक उसी प्रकार अंतःकरण के अन्दर शास्त्र-विरुद्ध मैल जमा है। उसको शुभ कर्म की वासना रूपी साबुन द्वारा ज्ञान रूपी जल से साफ करने पर अंतःकरण शुद्ध होता है। इन्द्रियों का दुरुपयोग रोक कर सदुपयोग में लगाना चाहिये। यदि उन्हें वैसा ही गंदा रहने दोगे तो

अंतःकरण में मैल ही रहेगा। इन्द्रियों को आत्मज्ञान अच्छा नहीं लगता है। अतः इन्द्रियों पर नियंत्रण आवश्यक है। यदि आत्म-ज्ञान की ओर मन को लगा दिया; तो शोक की निवृत्ति होगी।

एक बार दक्ष प्रजापति के श्वसुर ने विष्णु का अपमान कर दिया, तत्पश्चात् उन्होंने बड़ा तप किया। इन्द्र ने उस तप को भंग करने का विचार किया। कान्ता-कनक पतन के साधन होते हैं। अतः विप्रचित्ती अप्सरा को भेजा। उसने तपस्या भंग करने के राग-रंग फैलाये। उनकी प्राचीन वासनायें फिर जाग्रत् हो गईं। वे मन को नहीं रोक सके। अप्सरा सफल हो गई। उसके साथ भोग करते-करते बहुत काल व्यतीत हो गया। एक संध्या को जब वे लोटा लेकर संध्या करने चले; तब अप्सरा ने कहा "नौ सौ निन्यानबे वर्ष ग्यारह महीने सत्ताईस दिन व्यतीत हो गये, अब तक संध्या नहीं की और अब संध्या करने चले !" तपस्वी स्तब्ध रह गये। सारा संसार बदल गया था। तपस्या भंग हो गई "समय चूकि पुनि का पछताने।" अब तो हज़ार-दस हज़ार साल के पश्चात् ही शाप देने में भी समर्थ होंगे। अतः यह शरीर छूटने के पहले ही मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जावे एवं राग-द्वेष पर नियंत्रण कर ले तो छुटकारा हो सकता है। फिर दक्ष प्रजापति के श्वसुर ने घोर तपस्या कर के सफलता प्राप्त की।

इन्द्रियों के साथ दौड़ने का चित्त को अभ्यास हो गया है। इसमें परिश्रम ही परिश्रम है, कुछ हाथ आने का नहीं। क्षणमात्र के अन्दर कल्याण (शान्ति) का मार्ग समस्त दुःखों को शमन करने वाला है। अतः भगवान् में प्रेम रखना चाहिये। अनादि काल से जीव संसार में नाचता रहा है। अब तो आत्मकल्याणा कर लेवे ! यदि एक बार मन के भँवर से जीव निकल गया तो फिर चक्कर में पड़ने वाला नहीं। शरीर रूपी रथ को जब तक अपने हाथ में नहीं रखोगे; इन्द्रियों रूपी घोड़ों को बुद्धि रूपी सारथि द्वारा नियंत्रण में न रखोगे एवं परमेश्वर और गुरु की कृपा से धार तेज़

करके विचार रूपी तलवार को और विराग रूपी ढाल को ठीक नहीं रखोगे; तब तक शान्त भाव से तुम इसे छोड़ नहीं सकोगे। और यदि ये उपाय कर लिये तो जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली छोड़ देता है उसी प्रकार तुम्हें दुःख नहीं होगा। ठीक इसके विपरीत, यदि प्रमाद बना रहा तो ये इन्द्रियाँ तुम्हें विषयारण्य में ले जायेंगी जहाँ राग-द्वेषादि डाकू तुम्हारी शान्ति रूपी सम्पत्ति का अपहरण कर लेंगे। फिर कष्टनिवारण नहीं हो सकता। अतः मल और विक्षेप को दूर करके अंतःकरण को शुद्ध बनाना आवश्यक है।

विक्षेप का शमन

आत्मवेत्ताओं को शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। कौन-सा आत्मज्ञान चाहिये ? अपने आपको मनुष्य जान ही रहा है; कामी, क्रोधी, लोभी आदि आकार वाले आत्मज्ञान से नहीं अपितु शुद्ध आत्मज्ञान से ही मनुष्य शोक से तर जाता है।

आत्मा शब्द को सुनने वाला नहीं, स्पर्श करने वाला नहीं, कभी व्यय होने वाला नहीं; वह रसनेन्द्रिय का विषय नहीं, वह घ्राण का विषय नहीं, वह अनादि और अनन्त है। जिस दिन से जन्म हुआ उस दिन से तुम स्वयं को मानते हो और समझते हो कि मरने के बाद नहीं रहोगे। किन्तु जो वास्तविक स्वरूप है उसे जानकर मनुष्य मृत्यु के भय से छूट जाता है। जब मनुष्य आत्मा और अनात्म-पदार्थों के स्वरूप को समझ ले तभी ममता और अहंता से निवृत्ति होगी। शरीर-सम्बन्धी अहंता और देहसम्बन्धियों के साथ ममता हटे यह जरूरी है। आत्मज्ञान के लिये सांसारिक पदार्थों की ओर से हटे तो काम बने। एक ही समय में दो काम नहीं हो सकते। मन एक ही है, वह अनात्मपदार्थों में लगा हुआ शुद्ध आत्मा की ओर गमन नहीं करेगा।

किन्तु मन को संसार से हटाया कैसे जाये ? संसार बड़ा अच्छा लगता है। यदि संसार के असली रूप पर विचार करे तो जीव

इससे मुँह भी मोड़ सकता है। मनोनियंत्रण के लिये ध्यानादि का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान करते हुये जप करो। यदि मन न टिके तो टहलते रहो और फिर भी मन न टिके; तो कीर्तन करो; फिर भी यदि मन न टिके तो भगवद्-विषयक वार्तालाप करो। मन का स्वभाव है इधर-उधर जाना, केवल निद्रा के समय शान्ति रहती है। छोटा बच्चा या कुत्ता भी सिखाने से इशारे पर कार्य करता है। अतः मन को भी सिखाया जा सकता है। भगवान् के साकार ध्यान में मन कम सोता है क्योंकि उसमें कोई-न-कोई विषय है, उसका चिन्तन करता है। और जहाँ उसे स्थिर करो, वहीं निद्रा तथा आलस्य आ जाता है। अतः सबसे प्रथम साकार उपासना आवश्यक है। समाधि में सविकल्प इष्ट का ध्यान तथा निर्विकल्प आत्मा का ध्यान अवश्य होना चाहिये। ऐसी अवस्था में विस्मृति नहीं होती। विक्षेप को शमन करने के लिये संसार में दुःख की भावना करे। विषयों की ओर मन जावे और दुःख न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता है। विवेक की दृढता से जिसने संसार की असारता नहीं समझी उसमें विषयों की इच्छा अवश्य होगी।

सौभरि ऋषि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। सौभरि ऋषि को तप और स्वाध्याय ही प्रधान प्रिय था। वह बारह वर्ष तक एक ही समय भोजन करके रहे। फिर बारह वर्ष तक पत्ते खाकर रहे, बारह वर्ष तक जल पीकर रहे, फिर बारह वर्ष तक प्राण वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया, फिर बारह वर्ष तक वायु भी त्याग दी और सूर्य किरणों का भक्षण करके रहे। तदनन्तर एक पैर पर बारह वर्ष तक खड़े रहे। फिर बारह वर्ष तक एक अँगूठे पर खड़े रहे। फिर यमुना में बारह वर्ष की समाधि लगाई। फिर शरीर सड़ गया। जब उन्होंने आँख खोली तो बड़ा विचित्र दृश्य देखा। उनके चारों तरफ पानी था—एक मत्स्यराज अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ विहार कर रहा था। थोड़ी देर तक उन्हें रस आने लगा। फिर विचार करने लगे "बहुत समय संसार में रहा; किन्तु बाल-बच्चों का सुख

नहीं देखा।' तत्पश्चात् मान्धाता राजा के यहाँ जाकर राजकन्या की याचना की, अपनी तपस्या तथा अपने शरीर की ओर ध्यान नहीं दिया। कामना उद्दीप्त हो तो भय, लज्जा, औचित्यादि किसी का ख्याल नहीं रहता। विषयाशा से मनुष्य क्या-क्या नहीं कर लेता! भर्तृहरि ने कहा है "दुष्ट पुरुषों के वचन सुन लिये; उनकी आराधना भी की; जो उन्होंने कहा वह हमने किया। मन के अन्दर बड़ा दुःख था किन्तु हास्यास्पद बातें होने पर सभा में हँसे भी। जिनको हम जानते थे 'कोई योग्यता नहीं रखते' उन्हें भी नमस्कार किया। किन्तु हे आशा ! तू व्यर्थ ही उत्पन्न हुई। अभी भी मुझे दौड़ा रही है। अब तो मुझे छोड़ दे।"

मान्धाता सौभरि की याचना को सुनकर स्तब्ध रह गये। पर मना भी न कर सके और बोले "मेरी पचास कन्याओं में से जो आप का वरण कर ले वही मैं दे दूँ।" ऋषि अपनी तपस्या के बल से अत्यंत सुंदर शरीर वाले बन गये तो सभी राजकन्याओं ने उनका वरण कर लिया। पचासों कन्याओं के साथ विवाह करके एक भव्य नगर का निर्माण किया। समयानुसार उन्हें पचास हज़ार पुत्रों की प्राप्ति हुई; किन्तु जमा किये धन की भाँति उनकी तपस्या का क्षय हो गया ! इसलिये सदा सावधान रहान जरूरी है। कामना को थोड़ा भी मौका मिला तो न जाने कहाँ गिरा देगी। स्वाध्याय और सत्संग करने से यदि आदमी चूक जावे तो पुनः विचार करके मन को वश में करके परमेश्वर-प्राप्ति कर सकता है। संसार के अन्दर मन का जाना (विक्षेप शक्ति) रोक कर ही आत्मज्ञान संभव है।

कर्म और उपासना से रहस्य अवगत हो जाने पर भी बिना आत्म-ज्ञान के शान्ति नहीं मिलती। आत्मा का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय ? प्रत्येक ज्ञान के लिये योग्यता अपेक्षित है। ज्ञान के लिये अंतःकरण शुद्ध होना चाहिये। शास्त्र व आचार्य के उपदेश से संस्कृत अंतःकरण ही आत्मज्ञान में 'करण' है। लकड़ी काटने के

लिये कुल्हाड़ी की आवश्यकता पड़ती है। यदि धार न हो तो काम नहीं चलता। औज़ार ठीक होना चाहिये। जो औज़ार जितना बारीक हो उतना ही बारीक कार्य किया जावेगा। प्रातःकाल ब्लेड से हजामत बनाते हो, नये ब्लेड से पैन्सिल छील कर दाढ़ी नहीं बना सकते ! बारीक काम में आने वाली चीज़ को मोटे काम में लगाया जावे तो फिर उससे सूक्ष्म कार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार मन भी सूक्ष्म तत्त्व है—अणु से भी अणु। जो तुम्हारे ज्ञान के औज़ार आँख इत्यादि हैं वे अपने अन्दर नहीं देख सकते। इसी प्रकार कान-नाक इत्यादि सब बाहर की ओर देखते हैं। केवल अंतःकरण ही *अन्दर* देख सकता है; किन्तु हम उसे बाहर देखने के प्रयोग में ले आये ! अब यदि उसे अन्दर के काम में लाया जावे तो उसे फिर बारीक करना पड़ेगा तभी काम चलेगा। इसको अंतर्मुखी करके ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। मल-विक्षेप को हटाकर इस पर धार चढ़ानी होगी; अर्थात् पहले जंग हटानी पड़ेगी, तब सफाई और फिर धार चढ़ाने का कार्य करना पड़ेगा। सुई में धागा डालने के पहले पानी लगाकर वट लगाना पड़ता है। ऐसे ही परमात्मा का ग्रहण करने के पहले मन एकाग्र करना पड़ेगा। 'एक' केवल ब्रह्म है; उसी की ओर स्थिर करने का नाम एकाग्र करना है।

संसार नाम-रूप वाला है लेकिन ज्ञान-दृष्टि से वही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। एक सुन्दर स्त्री खड़ी हुई है—वहीं परमहंस, कामी, कुत्ता, पिता, पति, भाई और पुत्र उस सुन्दर स्त्री को देख रहे हैं। सबकी आँखों के अन्दर एक-सा ही पर्दा है; किन्तु दृष्टि में भेद है। संन्यासी की दृष्टि में वही उपेक्ष्य है। वह अपनी दृष्टि हटा लेता है। कामी सोचता है कि 'यह इष्ट पदार्थ है, यदि मुझे मिल जावे तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ।' दोनों एक ही शरीर को देख रहे हैं किन्तु दृष्टि में अंतर है। कुत्ता सोचता है—'यदि यह मर जावे, तो मुझे भोजन मिल जावे।' कुत्ता ही नहीं, अफ्रीका आदि में नरभक्षी

आदमी भी हैं। वे भी मनुष्य को स्वादिष्ट समझते हैं। पिता की दृष्टि में—योग्य वर ढूँढ कर उसका विवाह करने के संतोष की भावना है। पति में सुन्दर वस्त्राभूषण की व्यवस्था करने की दृष्टि है। पुत्र के लिये माता के भाव से पूजनीय है। भाई अपनी बहन को देख रहा है।

एक ही प्रमदा के विषय में इतनी वस्तुयें *दिखाई* पड़ती हैं। यदि उसे ज्ञान की दृष्टि से देखोगे तो केवल आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं, सारा संसार ब्रह्ममय दीखेगा। कर्त्तव्य-पालन सबसे प्रथम करना चाहिये। संसार से आँख मीचनी नहीं चाहिये। संसार की परीक्षा करना कर्तव्य है 'परीक्ष्य लोकान्', इसकी उपेक्षा से फल नहीं। परीक्षा अर्थात् वास्तव में यह सर्वथा निःसार है, यह हर तरह से समझ लेना। लोग कहते हैं कि गृहस्थी में रहते हुये किस प्रकार परमेश्वर-चिन्तन हो सकता है? प्रारब्धानुसार जिस भी स्थिति में हो वहीं परामात्मविचार कर लेना ही बुद्धिमानी है। प्रारब्ध बदलना तुम्हारे हाथ में नहीं। प्रारब्ध बड़ा प्रबल है, उसको कोई जीत नहीं सकता। महात्मा लोग सब कुछ छोड़ते हैं; किन्तु प्रारब्ध उन्हें वहाँ भी नहीं छोड़ता ! महात्मा इतना टंटा क्यों करते हैं ? प्रारब्ध बलात् कराता है। ज्ञान होने के पश्चात् भी लोककल्याण का कार्य प्रारब्ध कराता है।

एक ज्ञानी महात्मा थे। उनका एक मित्र भी था। दोनों राजा के यहाँ पहुँचे। विद्वान् महात्मा प्रचार करने लगे। संस्कृत की पाठशाला खुल गई। साधु योगाभ्यास करने लगे। बड़ा ठाठ बाट हो गया। एक बार वे बोले 'प्रारब्ध छोड़ता नहीं।' दूसरे महात्मा ने कहा "मैं छुड़ाता हूँ।" उन्होंने कहा 'यदि तुम्हारे कहने से छूट जावे; तो अच्छा है।' एक दिन दूसरे महात्मा ने एक कसाई, वेश्या तथा शराब बेचने वाले को कुछ समझा दिया। ज्ञानी महात्मा दरबार में प्रवचन कर रहे थे कि अचानक वेश्या ने महात्मा जी को सम्बोधन करके कहा "या तो मेरा पैसा चुका दो अन्यथा आपको

बड़ी हानि उठानी पड़ेगी।" महात्मा जी ने कहा "भद्रे ! चिन्ता न करो, कल तुम्हारा पैसा चुका दिया जावेगा। अभी तो खाने का भी टोटा है।" इतने में एक शराब बेचने वाला आया और कहने लगा "महात्मा जी पर दो बोतल शराब के पैसे चाहिये, मैं कब तक प्रतीक्षा करूँ। हे राजन् ! आप ही चुका दीजिये।" महात्मा जी ने कहा "फिर आना।" तत्पश्चात् कसाई उपस्थित हुआ और बोला "महाराज ! यह महात्मा जी नित्य एक बकरे का गोश्त लेते हैं; इनके सामने ही सूचित कर रहा हूँ ताकि बाद में आप यह न कहें कि आपको बताया नहीं गया।"

राजा इस वृत्तान्त को सुनकर आश्चर्य में पड़ गये। क्रोध के मारे उनकी भौंहें तन गईं और महात्मा जी से बोले "आप शीघ्र ही राज्य से बाहर निकल जाइये।" ज्ञानी महात्मा दूसरे महात्मा के साथ नगर से प्रस्थान कर गये। मार्ग में जाते समय दूसरे महात्मा ने उन्हें स्मरण कराया "तुम कहते थे प्रारब्ध नहीं छोड़ेगा। अब कैसे छूट गये ?" ज्ञानी महात्मा ने कहा "अभी देखो क्या-क्या होता है।" दोनों ने राज्य की सीमा को पार किया। इधर वेश्या को स्वप्न हुआ "तूने बड़ा अपकार किया है।" इस प्रकार कई बार स्वप्न हुये। तत्पश्चात् उसने राजा के पास जाकर सच्ची कहानी सुनाई—"मुझ से बड़ा अपराध हुआ।" शराब बेचने वाले ने भी डरकर सच्ची घटना सुनाई। फिर कसाई को भी राजा ने बुलाया और उसने भी सच्चा हाल कह सुनाया। अब तो राजा को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने घुड़सवारों द्वारा सीमा के बाहर महात्मा जी को रोका और अनुनय-विनय की, कि "आप वापस चलिये।" और आग्रह करके दोनों महात्माओं को नगर के अन्दर ले आये। वापस लौटने के पश्चात् महात्मा जी का कार्यक्रम यथापूर्व पुनः प्रारम्भ हो गया। अब तो दूसरे महात्मा भी उपदेश का कार्य करने लगे। तब पहले महात्मा ने कहा "प्रारब्ध ज्ञानी तक को नहीं छोड़ता तो साधारण व्यक्ति का कहना ही क्या है ?"

जंगल में जाने पर भीलनी तो रहेगी ही और फल भी खाने को मिलेंगे। वहाँ भी विषय मिलेंगे। जैसे जंगल में पेड़ ही पेड़ दिखाई देते हैं; उनमें आम और बबूल का पता नहीं चलता, एकत्व का भान रहता है; ठीक इसी प्रकार संसार में ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई दे, तब विषयाकर्षण मिटे। किन्तु जब तक पदार्थों का भेदग्रह है तब तक पदार्थ और विषय ही दीखेंगे। अतः संसार में दृष्टि को बदलना है। जंगल में काम-क्रोध-राग-द्वेष तुम्हें नहीं छोड़ेंगे; उनका स्वरूप वैसा ही रहेगा।

ज्ञानमयी दृष्टि से ब्रह्ममय जगत् देखना सीखना पड़ेगा; कर्त्तव्य के परित्याग का दोष नहीं करना चाहिये। दृष्टि को बदलना कठिन कार्य है।

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।" गीता ६/२६

बाहर निकलने के जितने मार्ग हैं उनसे मन को रोकना बड़ा कठिन है जैसे बच्चे को कहीं रोके रखना कठिन होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसका नाम उपपादन rationalisation रखा है, कि ग़लती करने के लिये मन तर्क का सहारा लेता है। शास्त्रशिक्षा ही भीतर से हमें नियन्त्रित रख सकती है। अपने अंदर आत्मा है; किन्तु मन-वासनायें इत्यादि भी अन्दर भरी हुई हैं, अतः अंतर्यामी की आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती। यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस अंतर्यामी को पकड़ोगे तो आत्म-ज्ञान की उपलब्धि होगी। भगवान् ने इसीलिये कहा है—

"तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।" गीता १६/२४

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर शास्त्रविधि से नियत किये हुये कर्म ही करने के लिये योग्य हैं। यदि कर्त्तव्य कर्म करोगे तो राग-द्वेषादि से निवृत्ति हो जावेगी और आवरण भी हट जावेगा। इस प्रकार अंतःकरण के

शुद्ध होने पर आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव है। तब आत्मवेत्ता शोक के पार जा सकता है।

अंतःकरण परमात्म-ज्ञान करने में समर्थ है। शुद्ध किया हुआ मन आत्म-ज्ञान कर सकता है। विक्षेप नाम के दोष से अंतःकरण बहिर्मुख हो गया है। बाह्य पदार्थों में संलग्न रहने के कारण अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं रहता। हनुमान् जी समुद्र-लंघन के समय अपनी शक्ति भूल गये थे। जब जाम्बवान् ने उन्हें उनकी शक्ति स्मरण कराई तब वे स्वयं को समर्थ महसूस करने लगे। अतः मनुष्य को अपनी योग्यता का ज्ञान कराना है।

आँख देखती है, कान सुनता है, जीभ चखती है पर मन स्वप्न में ये सभी काम कर सकता है—स्वप्न में दृश्य देख सकता है। बढ़िया संगीत भी सुनता है। वहाँ कान नहीं सुनते हैं ! ऐसा बहरा जो जन्म से बहरा नहीं है वह भी स्वप्नावस्था में संगीत सुनता है। जुखाम में घ्राणशक्ति काम नहीं करती; किन्तु तब भी स्वप्न में गुलाब, चमेली की सुगंध ग्रहण कर लेते हो। मन का इसलिये नाम अंतःकरण रखा। मन जाग्रत् में भी सुन सकता है, देख सकता है। जिस प्रकार आँख-कान सांसारिक पदार्थों को देख-सुन सकते हैं इसी प्रकार मन की विशेषता यह है कि अन्दर रहने वाले परमात्मा को यह मन ही देख सकता है। कब ? जब उसकी शुद्धि हो। विक्षेप का सबसे बड़ा कारण मन की यह शक्ति है कि वह पदार्थों के चित्र ग्रहण कर लेता है। अपने मस्तिष्क में अनन्त चित्र हैं जो बुद्धि के आदेश से वासनारूप में प्रकट होते हैं। यदि वासना को हटाया न जाय तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होता—

"शुभाशुभाभ्याम् मार्गाभ्याम् वहन्ती वासना-सरित्"
(वासिष्ठ)

शुभ और अशुभ रास्तों से वासना रूपी नदी बहती है। किन्तु अशुभ वासनायें अधिक हैं। शुभ वासनाओं के चित्र अधिक होंगे तो ध्यान लगेगा। अशुभ वासनायें संसार को सामने खड़ा कर देती

हैं। कर्म के द्वारा वासनायें बनती हैं। यदि मनुष्य गाली देने वाला हो तो उसे पता नहीं लगता है कि यह 'गाली' है। गाली उसका तकिया कलाम हो जाता है ! लोक-दृष्टि में गाली होते हुये भी उसे गाली का भान नहीं। इसी प्रकार अत्यधिक प्रयोग के द्वारा शुभ वासना की दृढता होने पर वही स्वभाव बन जाता है। शुभ कर्मो की वासना दृढ करना पौरुषेय प्रयत्न है जो तुम्हारे अंतःकरण को शुद्ध कर देगा। इसके लिये कर्त्तव्य कर्मों को करना पड़ेगा। यही शास्त्रों ने बार-बार बतलाया है।

संसार में तीन प्रकार के ऋण शास्त्रों ने प्रतिपादन किये हैं :—

१. पितृ ऋण—पुत्र उत्पन्न करने से, वंशपरम्परा को चलाने से चुकता है।

२. देव ऋण—देवताओं की पूजा करने से चुकता है।

३. ऋषि ऋण—विद्या पढ़ने से, अभ्यास करते रहने से चुकता है।

उपर्युक्त तीनों ऋणों को बिना चुकाये सिद्धि हो नहीं सकती।

दवाई भी हो पर सही ढंग से न ली जाये तो हानिकारक हो जाती है। चार दिनों में चार खुराक खाने से फ़ायदा करने वाली दवा भी यदि चारों खुराक इकट्ठी खा लें तो नुकसान कर जाती है। विधि के अनुसार सेवन करना ही लाभ देता है। एक जरत्कारु नाम के ऋषि थे; उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहने का व्रत लिया। यद्यपि उनके गुरु ने उन्हें मना किया फिर भी वे पढ़ाई समाप्त होने के पश्चात् जंगल में तपस्या करने लगे। नब्बे वर्ष तपस्या में व्यतीत हो गये; किन्तु आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ। "भिन्न-भिन्न तीर्थों में नियम से जाने से पाप से निवृत्ति होती है" ऐसा विचार कर ध्यानपूर्वक श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये तीर्थ-यात्रा को चल दिये। इस प्रकार उनके कई पाप कट गये। पैदल यात्रा करते हुये एक कुएँ के पास विश्राम करने बैठ गये। वहाँ उन्होंने देखा—एक आदमी खस नामक

तिनकों के पौधे को पकड़े लटक रहा है। दूसरा उसके पैर पकड़ कर एवं तीसरा दूसरे के पैर पकड़ कर लटक रहा है और ऐसे अनेक लोग उस गड्ढे में लटके हुए हैं। ऊपर उस पौधे को चूहा कुतर रहा है। जरत्कारु ऋषि ने उनसे नीचे उतरने को कहा; जरत्कारु ने उनसे पूछा 'आप लोग कौन हैं ? यों क्यों लटके हैं ?' उन्होंने कहा 'हम पितर हैं पर हमारी सन्तान-परंपरा का नाश होने से हमारी ऐसी हालत है। हमारे कुल में एक ही व्यक्ति बचा है—जरत्कारु, पर दुर्भाग्य से वह भी ब्रह्मचारी बन गया है ! अतः आगे हमारा वंश चलेगा नहीं, हमें श्राद्ध-तर्पणादि देने वाले कोई नहीं रह जायेंगे।' यह सुनकर जरत्कारु को भी बुरा लगा और वह ब्याह करने को तैयार हो गया पर उसने यह शर्त रखी कि 'कन्या भी जरत्कारु नाम वाली हो, उसके पालन-पोषण का भार मुझ पर न हो, उसके भाई-बन्धु भिक्षारूप में उसे मुझे दें और वह कन्या यदि मेरा अप्रिय कार्य कर बैठेगी तो मैं तभी उसे त्याग दूँगा।' नागराज वासुकि की बहन का नाम जरत्कारु था और नागजाति के रक्षक की उत्पत्ति उसी से होनी घोषित थी, इसलिये सारी शर्तें मानकर वासुकि ने जरत्कारु से अपनी बहन ब्याह दी। जब वह गर्भिणी हो चुकी तब एक दिन मुनि उसकी गोद में सिर रखकर सो रहे थे। सूर्यास्त का समय हुआ, ऋषिपत्नी ने धर्मलोप से बचाने के लिये जरत्कारु को जगा दिया ताकि सन्ध्या समय पर कर लें। उठते ही मुनि ने कहा 'यह तूने मेरा अपमान ही किया है ! मेरे सोते रहते सूर्य अस्त हों इतनी सूर्य में सामर्थ्य ही नहीं !! इस अपराधवश अब मैं तुझे छोड़ता हूँ। तेरे गर्भ में जो बालक है यह अतीव तेजस्वी, परम धर्मात्मा और उत्तम विद्वान् होगा।' यह कहकर जरत्कारु पुनः तपस्या करने निकल गये।

तात्पर्य है कि कर्त्तव्यपूर्ति के बिना कोई चाहे कि साधना से प्रगति कर ले तो संभव नहीं, कर्त्तव्य-पालन करने के बाद ही योग्यता आती है साधना से सत्फल पाने की। बिना कर्त्तव्य पालन

किये आत्मज्ञान नहीं हो सकता। चाहे जितनी उपासना की हो, बिना कर्त्तव्य-पालन के शुभ वासनायें अंतःकरण में नहीं आतीं। अतः शुभ मार्ग में प्रवृत्ति ही आत्मज्ञान की परिचायक है। इसी प्रकार विक्षेप दूर किया जा सकता है।

साधनामार्ग में बहुत कठिनाई है कि मन संसार-आकार तुरन्त ग्रहण कर लेता है। क्षण-भर भी असावधान हुए तो मन आत्माकार की जगह नाम-रूप के आकार का बन जाता है। पाँच मिनट परमात्मचिन्तन करो परन्तु मन को भटकने में पाँच सैकेंड भी नहीं लगते, इससे भी जल्दी वह संसार में उलझ जाता है। मशक में एक छेद होने से सारा पानी बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय बहिर्मुखी होने पर सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है। अतः मन समस्त इन्द्रियों को वश में करने पर ही काबू में आ सकता है। इसी कारण मशक का मुँह बाँध कर रखते हैं। ध्यानकाल में, जप-ध्यान के समय समस्त इन्द्रियों को रोक कर वश में करना पड़ेगा। यदि उन्हें रोका नहीं जायेगा तो मन अन्यत्र चला जायेगा। व्यवहार-काल में भी यदि शरीर को सब कुछ मान लोगे तो भी काम नहीं चलेगा। मन की चंचलता ठीक नहीं है। आसनादि, प्राणायाम, मुद्रायें शरीर को पुष्ट करने के लिये हैं। शरीर से ही साधन करना है। यदि शरीर ठीक नहीं है तो साधना हो नहीं सकती। इसके विपरीत यह भी नहीं कि शरीर को ही पुष्ट करते रह जायें, आत्मा की ओर दृष्टि ही न रखें! ऐसा प्रयत्न घड़ियाल को पकड़ कर नदी पार करने की चेष्टा के समान होगा। शरीर एक औज़ार है। मोटर की हिफाजत ही हो, प्रयोग नहीं हो तो उससे क्या लाभ? औज़ार की उपयोगिता प्रयोग में है। शरीर-रक्षा की उपयोगिता इन्द्रिय-भोग में नहीं है। हमने औज़ारों को रखा किन्तु प्रयोजन नहीं सोचा। ईश्वराराधन करना ही पुष्ट शरीर का कार्य है। आजकल शरीर-पोषण के लिये अभोज्य पदार्थों का लोग सेवन करते हैं। ''आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः''—अशुद्ध आहार का

नतीजा होता है कि चित्त अशुद्ध हो जाता है। तुम चाहे जितने हथियार रख लो पर चलाना नहीं सीखा तो कोई शस्त्र स्वयं तुम्हारी रक्षा नहीं करेगा और नासमझी से उसे आजमाओगे तो तुम्हारा नुकसान भी कर सकता है। ठीक इसी प्रकार यदि शरीर को पुष्ट करते रहे, सारी क्रियायें करके शरीर पुष्ट हो गया, पर उससे साधना की नहीं तो यमराज के दूतों के आने पर इन्द्रियाँ सहायता नहीं करेंगी ! पहले से अभ्यास तथा साधना की आवश्यकता है। इन्द्रियों द्वारा भगवान् का गुण-कीर्तन आदि किया होता तो क्यों यातना भोगना पड़ती ! अतः केवल शरीर की पुष्टि से जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटता।

सामान्य मृत्यु एक बार मारती है किन्तु मोह बार-बार मारता है। शरीर को साध्य मत मानो। शरीर-पुष्टि केवल ईश्वर-साधन के लिये है। कष्ट देने का साधन भी ठीक नहीं है। देह की ओर मन की वृत्ति का न जाना अभीष्ट है। यदि शरीर में रोग नहीं है तो उसकी ओर मन नहीं जायेगा। सामान्य पुरुष को भी कार्य में संलग्न रहने पर शरीर का ज्ञान नहीं रहता किन्तु शरीर में पीडा होने पर उसका ध्यान शरीरविकार में अवश्य जायेगा। देह में अशक्ति होने से थोड़ी भी असुविधा होने पर देहाकार वृत्ति हो जाती है। अतः शरीर में कष्ट सहन करने की क्षमता होनी चाहिये। जब शरीर तथा इन्द्रियों से मन हटता है तब विक्षेप की निवृत्ति होती है।

प्रारब्धवश रोगादि तो आते हैं किन्तु अभ्यासी उन्हें पार कर जाता है। बुलाये हुये रोग प्रारब्ध का दोष नहीं ! अधिक सुकुमारता की भी आवश्यकता नहीं। साधना निर्विघ्न चले इसके लिये शरीर को आवश्यक वस्तुएँ व सुविधाएँ विवेकपूर्वक देनी चाहिये। इस प्रकार की तितिक्षा द्वारा विक्षेप से निवृत्ति हो जाती है। विक्षेप-निवृत्ति से शोक नष्ट हो जाता है और आत्मा का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। कर्म और उपासना को जानने के पश्चात् भी शोक-निवृत्ति नहीं

होती है। आत्मज्ञान के द्वारा शोकनिवृत्ति वेदों ने बतलाई है।

विक्षेप-निवारण के बिना आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं। जितनी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होंगी उतना ही मन बहिर्मुखी होता है। किन्तु इन्द्रियों पर नियंत्रण रहने पर भी मन विक्षिप्त रहता है। उसकी निवृत्ति आवश्यक है। मन के विचारों पर भी नियंत्रण होना चाहिये। जैसे इन्द्रियों के समक्ष आने पर भोग्य पदार्थ उन्हें विक्षिप्त करते हैं वैसे मन में, बिना इन्द्रियों के भी, बीती अथवा आगे होने वाली चिन्ता विक्षेप का कारण उत्पन्न करती है। भूत-भविष्य की चिन्ता को बिना छोड़े आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। किसी से लड़ाई होने के पश्चात् दी गाली बिना दी हुई नहीं हो सकती। मन बीती बातों का चिन्तन करता रहता है—"ऐसा कर लिया होता", "ऐसा हो जाता" और ऐसी भूतकालीन चिन्ता मनुष्य को विक्षिप्त कर देती है। ऐसे ही भविष्य की चिन्ता में लोग विक्षिप्त रहते हैं। लम्बी योजनाएँ बनाते हैं जब कि अगले क्षण ही क्या परिस्थितियाँ बनेंगी इसका कुछ ठिकाना नहीं। अतः अपने अधिकारक्षेत्र से बाहर के बारे में चिंता करना व्यर्थ है।

जो मनुष्य अपने जीवन को नियमित बना लेता है उसको चिन्ता कम होती है। खाना-पीना-सोना-उठना प्रातः से सायंकाल तक नियम बाँध लेने से स्वतः ही कार्य में प्रवृत्ति हो जाती है। नियमों का प्रयोजन है चिन्ता का कम होना। आजकल प्रातःकाल से ही चिन्ता-विक्षेप का आरम्भ हो जाता है क्योंकि अनियमित जीवन है। उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ इत्यादि अनियमित जीवन का कारण उत्पन्न करती हैं। सर्वत्र नियम से बड़ा आराम मिलता है; यद्यपि प्रारम्भ में अवश्य कष्टप्रद है किन्तु यदि नियम में बँध जाता है तो मन नियमानुकूल कार्य करता है। फिर तत्त्व-चिन्तन भी कर सकता है।

साइकिल चलाने में पहले कठिनता प्रतीत होती है फिर अनायास ही उसे चलाने का अभ्यास हो जाता है। इसी प्रकार मन को

नियमित आचरण करने में प्रशिक्षित कर देने पर सरलतापूर्वक कार्य होता रहता है। ध्यानावस्था में नियमित जीवन, पढ़ने के समय तथा खेलने के समय भी नियमित जीवन बड़ा लाभप्रद है। अनियमित जीवन में दूसरे कार्य की चिन्ता लगी रहती है। अतः नियमानुकूल कार्य करने से सारे विक्षेपों की निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये शास्त्रों में बहुत नियम बताये हैं। वर्ण-व्यवस्था में व्यवसाय भी नियत थे पर आज उसमें भी नियम न रहने से 'क्या कार्य करें' इसी की चिंता विक्षेप किये रहती है। जीवन को कठोर नियम में बाँध लेने से, नियमित जीवन से परमार्थ-लाभ आसानी से प्राप्त हो सकता है; चिन्ताएँ होने से ध्यान प्रायः असम्भव हो जाता है।

पाँच-छह सौ वर्ष पहले सौराष्ट्र में डाकोर का एक भक्त हर पूर्णिमा को नियमपूर्वक ढाई सौ मील पैदल यात्रा करके द्वारिका-धीश के दर्शन किया करता था। महीनेभर वह इसी कार्य में व्यस्त रहता था। किसी भी परिस्थिति में रुकता नहीं था। बिना पूर्णिमा के दर्शन किये भोजन भी नहीं करता था। इस प्रकार सैंतालीस वर्ष तक नियमित दर्शन करता रहा। एक दिन वर्षा होने पर मार्ग में पैर फिसल गया और चोट लग गई। भगवान् के दर्शन की व्याकुलता थी अतः वहीं गड्ढे में द्वारिकाधीश के दर्शन प्राप्त हुये ! उसका नियम पूरा करने के लिये द्वारिकाधीश स्वयं वहीं प्रकट हुये। भगवान् ने भक्त से कहा "मुझे आज रात्रि के बारह बजे डाकोर ले चल।" जैसे ही वह नियत समय पर वहाँ पहुँचा, मन्दिर का द्वार खुला और वह अन्दर से भगवान् की मूर्ति उठाकर चल दिया। मूर्ति बहुत भारी थी; किन्तु भगवान् हल्के हो गये। वहाँ से बैलगाड़ी के द्वारा भगवान् को रात्रि भर में ही डाकोर ले आया।

मंदिर में प्रातः होने पर भगवान् की मूर्त्ति गायब देखकर पुजारी ने अनशन करके भगवान् को प्रसन्न किया तो उन्होंने बतलाया "हम डाकोर में पहुँच गये हैं।" तत्पश्चात् पुजारी एवं सब भक्त-जन डाकोर पहुँचे और भगवान् के श्रीविग्रह को वापस ले जाने का

आग्रह किया। अन्त में भगवान् की मूर्त्ति को नाक की नथ के साथ तोलने की शर्त रखी गई; किन्तु तोलने पर भगवान् नथ के बराबर हुये ! सब देखकर आश्चर्य में पड़ गये। पुजारी ने पुनः अनशन कर दिया। तत्पश्चात् उसी मूर्त्ति में से दो मूर्त्तियाँ बन गईं। एक मूर्त्ति डाकोर रखी गई और दूसरी पुजारी वापस मंदिर को ले गया। उसी समय से उन दोनों मूर्त्तियों के दर्शन करने से पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दृढ नियम से भगवान् प्रसन्न होते हैं और फल की प्राप्ति होती है। अतः शास्त्रकार जीवन को नियम-बद्ध करने का निर्देश देते हैं। जीवन नियमित हो जाने पर अनायास ही अभ्यास चलता रहता है। अनावश्यक चिन्ताओं में वृत्ति न लगने पाये तो सारे कार्य अनायास ही चलते रहेंगे और मन भगवत्-चिन्तन करता रहेगा।

कषाय दोष और उसकी निवृत्ति

भगवती श्रुति बतला रही है कि कर्म एवं उपासना के पश्चात् भी सुख और शान्ति नहीं—"तरति शोकम् आत्मवित्" आत्मवेत्ता ही शोक समुद्र का उल्लंघन अर्थात् शोक को तर सकता है। दोषों की निवृत्ति से पहले शोक-निवृत्ति नहीं हो सकती। लय एवं विक्षेप दोषों का वर्णन किया जा चुका है। विक्षेप के दो रूप, भावात्मक तथा अभावात्मक बतलाये गये हैं। शास्त्र ने यह भी बताया है कि क्या करने से और क्या न करने से विक्षेप हट सकता है। कुछ भावरूप साधनायें आगे स्वयं सनत्कुमार जी बतलायेंगे तथा अभावरूप जैसे—इन्द्रियों के विषयों में न जाने से, आसक्ति हटाने से, नियम से, इत्यादि।

कषाय किसे कहते हैं ? जो वासनायें गुप्तरूप से दब कर रहती हैं उन्हें कषाय कहते हैं। जैसे शरीर में गुप्त रोग हो जाता है तो बड़ी कठिनता से जाता है। इसी प्रकार कषाय रहते, चाहे-जितनी मन में शान्ति प्रतीत हो, वह स्थायी नहीं होती। ज्ञान द्वारा कषाय की निवृत्ति करनी पड़ेगी। जब वासना शेष रह जाये तब कषाय की अवस्था कहते हैं। जिस वस्तु का सम्पर्क रहा हो उसकी वासनायें रह ही जाती हैं, जैसे विद्यार्थी-जीवन के बाद सालों व्यतीत हो जाने पर भी परीक्षा का स्वप्न दीखता है ! वासना से माया अपना कार्य सिद्ध करती है।

एक गुरु के दो शिष्य थे। गुरु जी एक शिष्य के प्रति प्रेमभाव रखते थे; किन्तु दूसरे के प्रति नहीं। पहला शिष्य प्रतिभाशाली, होनहार, और दूसरा मोटी बुद्धि वाला था। गुरुपत्नी बड़ी दयालु थी। वे कमज़ोर के प्रति दया एवं स्नेह का भाव रखती थीं। साधारणतः चतुर पुत्र से पिता का प्रेम अधिक होता है; किन्तु मूर्ख एवं कमजोर पुत्र के प्रति माता का स्नेह अधिक होता है। गुरु-पत्नी कभी-कभी गुरु से कहें "एक को अधिक पढ़ाते हो; किन्तु दूसरे को कम पढ़ाते हो।" गुरु जी ने समझाया—'एक कोरा भाँडा (बर्तन) ले आओ, दोनों की बुद्धि की परीक्षा करेंगे।' पहले कमज़ोर शिष्य को बुलाया। "नये भाँडे को चिकना करने के लिये तेल की आवश्यकता है इसे ले जाओ और बाज़ार से तेल लगवा लाओ।" उसने दो पैसे तेल के लिऐ माँगे; किन्तु गुरु ने कहा "वैसे ही लगवा लाओ।" शिष्य लेकर चल दिया और तेल वाले के पास पहुँचा। उसने तेल माँगा; किन्तु मुफ़्त किसी ने भी नहीं दिया। वह वापस लौट आया और कहा "तेल किसी ने नहीं दिया।" दूसरे शिष्य को भाँडा लेकर भेजा। उसने तेल वाले की दूकान पर जाकर कहा 'पाँच सेर तेल दे दो' और तुलवाने के पश्चात् उसने तेल वापस कर दिया ! दो तीन जगह इसी प्रकार उसने तेल तुलवाने के पश्चात् वापस कर दिया। इस प्रकार भाँडा तेल से चिकना कर लिया। तात्पर्य है कि जितनी बार तेल पड़ेगा उतना ही बर्तन चिकना होता जायेगा।

अंतःकरण घड़ा और वासनायें चिकने पदार्थ के रूप में रहती हैं। विक्षेपों को हटाने के पश्चात् भी माया कषाय के द्वारा अपना कार्य करती है। परिणामतः मनुष्य के मन में ग्रन्थियाँ पड़ जाती

हैं। आजकल भी मनोवैज्ञानिक द्वारा अथवा स्वयं जान लेने पर ग्रन्थि को खोलने के पश्चात् सफलता प्राप्त हो जाती है। जैसे लौकिक ग्रंथियाँ साधारण विवेक से खोली जाती हैं वैसे राग-द्वेष-काम-क्रोध की ग्रन्थियाँ भी आत्मविवेक से ही खोली जा सकती हैं।

वासना को जानने के दो उपाय हैं :—(१) स्वप्न को आधार मानकर वासना का असली रूप प्रकट हो जाता है। वासना रूपान्तर धारण करके मन में विक्षेप और बाधाओं को उत्पन्न कर देती है। आफिस में आफीसर ने डाँटा। स्वप्न में वही आफीसर मारा गया। उसकी अर्थी के साथ आप जा रहे हैं। जिन वासनाओं को हम दबा देते हैं स्वप्न में वही प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती हैं।

(२) कुछ विशिष्ट आचरणों से वासना का ज्ञान होता है। अपनी भयवासना, अशुद्धि की वासना, चोरी की वासना आदि के फलस्वरूप अनेक शारीरिक चेष्टाएँ होने लग जाती हैं जिन पर साधारणतः अपना नियंत्रण भी नहीं रहता। यह बड़ा विस्तृत विज्ञान है। गुम-सुम की अवस्था में किसी वासना का होना निश्चित है। उसका ज्ञान होना आवश्यक है। सद्गुरु द्वारा अपनी वासना समझ कर उसका निवारण करना चाहिये। योग के विशिष्ट अभ्यासों से अपने मन का साक्षात्कार होकर गुप्त वासनाओं का पता लग जाता है और उनका निवारण भी किया जा सकता है।

राठौरवंशी राव योधा जी जोधपुर के संस्थापक थे। वे केवल वीर ही न थे उनमें योग साधना भी थी। बड़े भाई से अपमानित होकर उन्होंने एक फौज का निर्माण करके भूमि पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् जोधपुर नगर। बसाया किन्तु उनके साधक-जीवन के बारे में प्रसिद्ध है कि जब उनके गुरु का देहान्त हुआ तब तक योधा जी शून्याकार-वृत्ति की स्थिति तक ही पहुँचे थे। उन्हें समाधि में दुःख और विक्षेप तो नहीं होता था पर पूर्णता एवं आनंद का भी कोई स्फुरण नहीं होता था।

एक बार एक महात्मा जोधपुर आये। योधा जी से संपर्क

हुआ। बातचीत से महात्मा ने उनकी अवस्था पहचान ली और यह भी समझ लिया कि वे विकास करने के योग्य हैं। फिर भी एकाएक गुह्य शिक्षा नहीं दी जाती। शिष्य में केवल सामर्थ्य ही नहीं श्रद्धा भी होनी चाहिये। जैसे दर्शन के विद्वान् वादी को और शिष्य को समान उत्तर नहीं देते, दोनों को समझाने के तर्क अलग-अलग होते हैं, वैसे ही श्रद्धालु व लगन वाले शिष्य को जो साधना बतायी जा सकती है वह साधारण व्यक्ति को नहीं। जिस पर श्रद्धा नहीं होती उसकी सही बात भी लोग मानने को तैयार नहीं होते बल्कि दोष ही ढूँढने लगते हैं। अतः महात्मा ने तत्काल कुछ नहीं किया पर एक जगह पाँच-सात दिन रहकर अन्यत्र जाने के अपने नियम को छोड़कर जोधपुर में ही रुक गये। सत्संग करते-करते राजा को उन पर श्रद्धा हो गयी। तब महात्मा ने योगपद्धति से राजा की समाधि में प्रवेश किया। उस दिन राजा को विलक्षण आनंद का स्फुरण हुआ। किन्तु अगले दिन से पुनः पूर्ववत् जडता रहने लगी। कुछ दिनों बाद महात्मा ने फिर-से वही प्रयोग किया। अब योधा जी को जिज्ञासा हुई कि कभी-कभी ऐसा क्यों होता है ? श्रद्धा हो ही चुकी थी अतः शिष्यभाव से महात्मा से अपनी समस्या कही तो उन्होंने वह साधना बतायी जिससे वे कषाय मिटें जो राजा की प्रगति में रुकावट डाल रहे थे। राजा शीघ्र ही पहचान गया कि भाई के प्रति द्वेष की वासना से उसका आनंदस्वरूप आवृत रहता है। विवेकपूर्वक वह वासना मिटने पर योधा जी को व्यापक आनंद का स्फुरण भासने लगा।

क्योंकि कषाय छिपी वासना होती है इसलिये अनुभवी गुरु ही उसे खोज सकता है। प्रकट वासनाएँ स्वयं भी पता लगाई जा सकती हैं। सांसारिक व्यवहार में रुकावट करने वाली वासनाओं का पता मनोवैज्ञानिकों की सहायता से चल सकता है पर अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ने में क्या अवरोध है और वह कैसे दूर हो, यह स्वयं जो साधना से सिद्धि पा चुका है ऐसा सद्गुरु ही बता

सकता है और शिष्य पूर्ण श्रद्धा से उसके निर्देश का पालन करे तभी उस दोष को मिटा कर आत्मकल्याण पा सकता है। कुछ वासनाओं को वैराग्य से दूर कर सकते हैं पर कुछ को बिना आत्मज्ञान के मिटाना संभव नहीं। यह परख गुरु ही कर सकता है अतः कषाय-निवृत्ति में गुरु की शरणागति प्रधान होती है।

तीन प्रकार के कषाय दोष हैं :—(१) भूत वासनायें, (२) भावी इच्छायें और (३) वर्तमान वासनायें। स्थूल कषायों की निवृत्ति साधन-चतुष्टय के द्वारा हो सकती है; किन्तु सूक्ष्म कषाय दोष की निवृत्ति बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है। जिसने वेदाध्ययन किया और अर्थ भी समझ लिया; उसे भी कषाय दोष के कारण आत्म-ज्ञान अथवा मुक्ति प्राप्त नहीं हो पाती। धन घर में ही गड़ा हो पर पता न हो तो किसी काम का नहीं। ऐसे ही वेदादि का बोध रहते भी कषाय होने पर वह बोध निष्फल रह जाता है।

एक बार एक आदमी ने अपना धन गाड़ कर बही खाते के एक पन्ने पर लिख दिया "आज की मिती आषाढ पूर्णिमा के दिन बारह बजे गुंबद के नीचे पाँच घड़े हीरे के गाड़ रखे हैं। किसी दिन काम आवे, इस कारण लिख दिया।" उनका शरीर शान्त हो गया। तत्पश्चात् खोदने पर रुपया हाथ नहीं लगा। जब वहाँ नहीं मिला तो घर में नीचे ज़मीन भी खुदवा डाली; किन्तु कुछ नहीं मिला। अन्त में सोचा "सम्भवतः गाड़कर निकाल लिया होगा।" लड़के थोड़ा-बहुत जो धन था उसी से गुज़ारा करने लगे। उनके पिता का मित्र बड़ा व्यापारी था, वह आया। उसे लड़कों की गरीबी पर दया आ गई; उसने कहा "तुम्हारे पिता के पास धन तो अधिक था।" उसके लड़कों ने सारी खोदने की कथा सुनाई। तब उसने कहा "तुम्हारे पिता लिखने में तो बड़े कुशल थे।" मित्र ने वह लेख पढ़ा। गुंबद के नीचे तो खोदने से कुछ मिला नहीं था। उसने सोचा 'दिन में बारह बजे' यह बही में क्यों लिखा ? उसने विचारपूर्वक समझ लिया कि आषाढ पूर्णिमा के दिन बारह बजे गुंबद की जहाँ

छाया पड़ती है वहाँ गाड़ा होगा ! तभी तिथि व समय दोनों लिखने का प्रयोजन होगा। वैसा ही किया तो वे गड़े हीरे मिल गये।

किसी बात को स्थूलतया जानकर भी बिना रहस्य जाने अज्ञान से मुक्ति नहीं होती। बिना युक्ति जाने तत्त्व की प्राप्ति नहीं। शास्त्रवेत्ता जानते हैं कि परमात्मा अंतर्यामी है। वह कषाय दोष से ढका हुआ है। अतीत की वासनाएँ साधना-प्रगति में रुकावट डालती हैं। एक संन्यासी गुरु के समीप रहता था श्रवण, मनन आदि से गुरु का उपदेश वह समझ लेता था किन्तु उसे ब्रह्म-ज्ञान नहीं हुआ, किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिला । गुरु ने समझ लिया कि कोई कषाय ही रुकावट डाले है। उन्होंने पता लगाया कि वह पूर्वाश्रम में राजा था और उसे रानी से अत्यंत लगाव था पर रानी मर गयी तो वह भी संन्यासी बन गया था। वर्तमान में तो वह वैराग्यवान् ही था लेकिन अतीत की राग-वासना उसे आत्मनिष्ठ नहीं होने दे रही थी। गुरु ने यह समझकर पत्नी के स्वरूप का ही विवेक कराना प्रारंभ किया तो धीरे-धीरे उसे पत्नी के अनात्मांश के प्रति हेयबुद्धि हो गयी और वह आत्मवस्तु समझ गया, आनंदमग्न हो गया।

इसी प्रकार भावी प्रतिबंधक भी होते हैं। भविष्य में कुछ पाने की या किसी सांसारिक स्थितिविशेष से छूटने की कामना और ऐसी वासनाएँ भावी प्रतिबंधक कही जाती हैं। प्राप्तव्य चाहे लौकिक धन आदि हों या पारलौकिक वैकुण्ठादि, सभी की कामना ज्ञाननिष्ठा में रुकावट डालती है। स्थूल पदार्थों की तरह सन्मान, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति आदि पाने की इच्छा भी नाम-रूप के प्रति आदर छोड़ने नहीं देती। जब तक सन्मान मिलता रहे तब तक लगता है कि हम सन्मान के भूखे नहीं हैं लेकिन इस भूख का पता तब चलता है जब गाली खानी पड़े, अपमान हो। कई बार प्रशिक्षणवश बाहर से कोई प्रतिक्रिया नहीं दीखती किन्तु जब अनिष्ट परिस्थिति के बाद मन में 'क्यों हुआ ? क्यों किया ?' का

प्रश्न चलता रहे, ठेस महसूस हो, तब तक समझना चाहिये कि अपने अंदर वासना उपस्थित है। जैसे सन्मानादि मिलने पर प्रश्न नहीं उठता ऐसे ही अपमानादि से भी न उठे, तब वासनारूप प्रतिबंध दूर हुआ जानना चाहिये। संसाररूप बंधन से छूटने की इच्छा तो मुमुक्षा है पर संसार के अन्तर्गत रहते हुए अमुक-अमुक बंधनों से ही छूटना चाहना भी भावी प्रतिबंधक है। सामाजिक बंधनों से या कर्तव्य के बंधनों से या अधमर्णता के बंधन से ही कोई छूटना चाहता है तो ये वासनाएँ भी समूचे नाम-रूप के प्रति तिरस्कारदृष्टि नहीं बनने देतीं। इस प्रकार आगामी प्रतिबंधक साधना में प्रगति रोक देता है।

प्रतिबंधक हटाने का उपाय तो मुख्यतः विचार ही है। बाहर से कोई लक्षण न दीखें पर खाते-पीते भी कमज़ोरी बनी रहे, पुष्टि न हो तो व्यक्ति समझ लेता है कि अवश्य कोई रोग है और निष्णात वैद्य से परीक्षण कराता है। ऐसे ही साधनाभ्यास करने पर भी यदि निष्ठा में परिपक्वता न आये तो साधक को किसी अनुभवी से जाँच करानी चाहिये कि क्या प्रतिबंध है। स्वयं भी सावधानी बढ़ाकर मनोविश्लेषण करे कि कौन-सी वासनाएँ मन में कालुष्य बनाये हैं और विवेकपूर्वक उन्हें हटाने का प्रयास करे। कषाय रहते तो विचारशील भी पतनोन्मुख हो जाता है।

एक उच्च कोटि के सिद्ध महात्मा मरणासन्न थे। उन्होंने शिष्यों से कहा 'मेरा शव जब गंगा में बहाओगे तब यदि देवदुंदुभि बजे और विमान मुझे लेने आये तो समझ लेना मेरी सद्गति हो गयी।' उनका भाव तो शिष्यों में शास्त्र-श्रद्धा बढ़ाना था पर शिष्यों को विश्वास था कि गुरु जी अवश्य सद्गति ही पायेंगे तो उन्होंने गाँव में व आस-पास सर्वत्र खबर फैला दी कि 'हमारे गुरु जी को लेने देवविमान आयेगा।' जब गुरु का देहान्त हुआ तब वह चमत्कार देखने बहुत भीड़ जुट गयी किन्तु शरीर का प्रवाह करने पर न कोई दुन्दुभि बजी और न कोई विमान ही आया। शिष्यों को

बहुत दुःख भी हुआ और अपमान भी प्रतीत हुआ, लोग भी कहने लगे 'आजकल के महात्मा पूरी तपस्या करते कहाँ हैं !'

कुछ समय बाद उन दिवंगत संत के एक साथी उधर आये। उन्होंने सारा किस्सा सुना। आश्चर्य उन्हें भी हुआ क्योंकि जानते थे कि वे सन्त थे उत्तम साधक। अतः विचार किया कि कोई बड़ी वासना तो उनमें रही नहीं होगी, छोटी-मोटी किसी तात्कालिक इच्छा से उनकी सद्गति प्रतिबद्ध हुई होगी। उन्होंने शिष्यों से कहा 'तुम्हारे गुरु जी मरते समय जहाँ थे, जैसे थे वैसी स्थिति मुझे बताओ।' शिष्यों ने कुटिया दिखाई और जहाँ बैठकर जिधर मुँह कर प्राण छोड़े थे वह सब बताया। वे महात्मा वहीं उसी तरह बैठे। बैठते समय उनकी दृष्टि सामने लटकी एक हाँडी पर पड़ी। उन्होंने हाँडी मँगाकर देखा तो उसमें कुछ बेर पड़े थे। बेर काटकर देखा तो एक फल में एक कीड़ा पड़ा था। महात्मा सन्तुष्ट होकर बोले 'इस कीड़े का गंगा-प्रवाह करो, विमान आयेगा, दुंदुभि बजेगी।' शिष्यों को अचंभा हुआ पर महात्मा तो जानते थे, अतः वैसा ही किया और हुआ भी जैसा कहा था वैसा ही ! शिष्यों ने पूछा तो उन्होंने बताया 'यह कीड़ा तुम्हारे गुरु जी ही थे ! वे ही अब उत्तम लोक को गये हैं। हुआ यह कि अंतिम समय उनकी दृष्टि हाँडी पर पड़ी तो वृत्ति बन गयी 'अरे इसमें रखे बेर तो खाना भूल ही गया!' फिर समय न होने से बेर नहीं खाये, प्राण छोड़ दिये। किन्तु वह जो बेर खाने की वासना उद्बुद्ध हो गयी वही उन्हें बेर तक ले गयी, ऊर्ध्वगमन नहीं करने दिया। और तो कोई इच्छा उनके चित्त में थी नहीं। अतः कीट-योनि में बेर खाकर वह इच्छा पूरी हो गयी तो उनके ऊर्ध्वगमन में कोई रुकावट न रह जाने से कीटशरीर छूटते ही वे विमान पर आरूढ होकर चले गये।'

अतः साधना में चाहे जितना बढ़ा हो, यदि एक बेर खाने की भी वासना रह जाये तो प्रतिबंधक बन ही जाती है। इसलिये वासना की कभी उपेक्षा न करे वरन् विवेक और अभ्यास से उसे

नष्ट करने की ही कोशिश करे यही साधक के हित की बात है। कषाय निवृत्तिपूर्वक ही ज्ञान से मोक्षलाभ संभव है।

भूत-भावी की तरह वर्तमान कषाय भी प्रतिबंधक बन जाते हैं। जो विषय-व्यक्ति-परिस्थिति अपने पास हैं उनमें आसक्ति, सूक्ष्म बात समझने में बुद्धि की अक्षमता, कुतर्क, वेदविरुद्ध बातों में आग्रह इत्यादि को वर्तमान प्रतिबंधक कहा गया है। विषय पास होना, उसका उपभोग कर लेना—यह एक बात है और उससे तादात्म्य हो जाना दूसरी बात है। किराये के मकान में नीचे के तल्ले वाला कील ठोके तो तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ता पर अगर घर तुम्हारा है, तुम मकान-मालिक हो तो उसमें कोई भी, कहीं भी कील ठोके, हर हथौड़ा तुम्हारी छाती पर भी चोट करता है ! अपनी संपत्ति नष्ट हो जाये तो लगता है, कहते भी हैं 'हम मारे गये !' यह एकात्मभाव तीव्र आसक्ति का रूप है जो विषयों में ही लिपटाये रखता है, परमात्मा की ओर नहीं जाने देता। बच्चों के हाथों में लड्डू पकड़ा दो, फिर उन्हें दूसरी मिठाई दो; वे लड्डू छोड़ेंगे नहीं अतः चाह कर भी दूसरी मिठाई ले नहीं सकेंगे ! दुःखी हो जायेंगे। इसी प्रकार अनात्मवासनाएँ छोड़े बिना आत्मबोध ग्रहण नहीं किया जा सकता, चाहे जितनी कोशिश कर लो। चीन में ध्यान को ही अपभ्रंशकर 'च्येन' कहते हैं। एक राजा किसी संत के पास च्येन सीखने पहुँचा। संत ने बात-चीत की, सारी परिस्थिति समझी। तब तक सेवक लोग चाय ले आये। संत ने राजा के लिये जो बर्तन था उसमें चाय डालना प्रारंभ किया पर प्याला भरने के बाद भी डालते गये, चाय बाहर गिरती गयी। राजा ने आश्चर्य से कहा 'प्याला भरा पड़ा है, और क़्यों डाल रहे हैं ?' संत रुक गये। मुस्कराकर बोले 'राजन् ! बुद्धि में संसार भरा हो तो उसमें संसार से अतीत की बात के लिये जगह कहाँ होगी ! जितना बुद्धि से संसार खाली होगा उतना ही ध्यान भी हो सकेगा।' राजा समझ गया। अतः वर्तमान उपलब्ध भी विषयों के प्रति आसक्ति नहीं होने देनी चाहिये क्योंकि अप्राप्त ही नहीं प्राप्त विषय भी राग द्वारा प्रतिबंध खड़ा करने में सक्षम होते हैं।

स्थूल मति या प्रज्ञा-मंदता भी वर्तमान प्रतिबंधक है। प्रखर बुद्धि पुण्य का फल है। दर्शनशास्त्र के विषय समझना प्रायः कठिन माना जाता है क्योंकि ज़्यादातर लोगों को जब तक बाहर विषय उपलब्ध न किया जाये तब तक उसे समझ पाना संभव नहीं होता और दार्शनिक तत्त्व प्रायः घड़े-कपड़े की तरह बाहर दीखते नहीं। मुमुक्षु को प्रयासपूर्वक बुद्धि को इस लायक बनाना चाहिये कि स्वानुभव के सूक्ष्म भेदों को ग्रहण कर सके। अद्वैतबोध के लिये दार्शनिक पाण्डित्य तो नहीं चाहिये लेकिन जिन सूक्ष्म अनात्मतत्त्वों से तादात्म्य है उन्हें पहचानना तो पड़ेगा और पहचानकर उन्हें छोड़ना भी पड़ेगा अतः बाह्य या ऐंद्रिय दृश्यों से विलक्षण जो सूक्ष्म विषय हैं उन्हें समझने की प्रखरता बुद्धि में हुए बिना आत्मज्ञान संभव नहीं। किन्तु कुतर्क भी प्रतिबंधक है ! सूक्ष्म बातें समझने के लिये तर्क, युक्ति अनिवार्य है लेकिन वही यदि कुत्सित हो जाये, प्रमाण पर आधारित न रहे, वेद का ही विरोध करने लगे तो प्रतिबंधक बन जाता है। अतएव सत्तर्क या श्रुतिसंमत तर्क करना चाहिये, कुतर्क या श्रुति को विमत तर्क ग़लत है यह पहचानने की सामर्थ्य होनी चाहिये। ऐसे ही दुराग्रह रखना भी प्रतिबंधक है। पूर्व संस्कार अवश्य होंगे पर सद्गुरु आदि के उपदेश से यदि वे संस्कार ग़लत सिद्ध हो जायें तो उन पर आग्रह नहीं रखना चाहिये। पुराने हैं इतने मात्र से उन आग्रहों को सही या हितकारी मत मानो, शास्त्रानुसार मुमुक्षु के लिये उचित निर्धारित हों तभी किसी निश्चय पर दृढ होना चाहिये। विचार की कसौटी पर कसने से ही वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है। अविचार अनादि होने पर भी विचार से बाध के ही योग्य है।

वर्त्तमान कषाय दोष का पता लगाने का उपाय है —कुछ दिनों विषयों से दूर रहना, फिर देखना मन में किसी प्रकार की वृत्ति

उठती है या नहीं? बिजली के प्रकाश के अभाव में अनुभव करो, मोटर पर चढ़ना छोड़कर देखो। यदि किसी प्रकार की चंचलता मन में नहीं हो तो समझ लेना कि आसक्ति नहीं है। दिलीप, रघु इत्यादि कुछ दिनों ऋषि-आश्रमों में रहा करते थे। परिणामतः सत्संग, तितिक्षा और अनासक्ति की स्वतः ही परीक्षा हो जाती थी। आजकल तीर्थ-यात्रा में भी लोग ठाठ बाट रखते हैं! पहले सामान्य रूप से ही लोग तीर्थों को जाते थे।

अभिमान का पूर्णरूपेण परित्याग करना उचित है। अपने मन से ही परीक्षा कर तत्तद् विषयों को मन से हटाना चाहिये। एक बार यदि विषयासक्ति न हो तो आगे भी न होगी, ऐसा नहीं समझना चाहिये। एक देशसेवक कहने लगे ' हम तो बहुत देशसेवा कर चुके !' इससे भाव प्रकट होता है कि अब उनमें सेवा-बुद्धि नहीं है। ऐसे ही त्यागी भी भोग की ओर आकृष्ट होते देखे जाते हैं। निरंतर यह देखना चाहिये कि मन कहीं विषयों की ओर जाता तो नहीं है। प्रज्ञावान् भी एक क्षण के लिये विषय में रत हो तो एक दम नीचे आ जावेगा। सीढ़ियों पर चढ़ते समय गेंद छूट जाने पर फिर नीचे ही मिलेगी। यदि शम दमादि दृढ नहीं हैं, तो ज्ञान की प्राप्ति होना कठिन है।

आजकल कलयुग में "मैं भी ब्रह्म हूँ, तू भी ब्रह्म है"—यह भावना सबके मन में जाग्रत् हो जाती है; किन्तु साधन कोई नहीं करता। अतः 'सर्वं ब्रह्ममयम्' सिर्फ़ कहने की बात रह जाती है। कहीं कुछ थोड़ा भी उनके विरुद्ध कार्य हो जाये तो उसमें वे ब्रह्मदृष्टि तो छोड़ो, तितिक्षा से तपोदृष्टि भी नहीं कर पाते ! विषयासक्ति रहते गलत धारणा ही ब्रह्मविद्या नाम से दिमाग में बैठ जाती है।

अभ्यास

यह आशा नहीं करनी चाहिये कि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात्

मौज उड़ायेंगे ! यद्यपि ज्ञानी को स्वतः ही आनन्द की उपलब्धि होती है तथापि वह वैषयिक सुख नहीं है। उस पर रुकावटें नहीं इसका यह मतलब नहीं कि वह कुत्ते की तरह अशुचि-भक्षण करने लगेगा ! विषय-क्षेत्र में ज्ञानी का आचार पूर्ण धार्मिक, परम पवित्र ही रहता है भले ही वह इसके लिये बाध्य नहीं है। जब ज्ञानी भी शास्त्र-मर्यादाओं को सन्मान देता है तब साधक हमेशा उन्हें माने इसमें क्या कहना ! अतः विषयासक्ति को दूर करना चाहिये और वेदान्त का बार-बार श्रवण करना चाहिये। एक बड़ा भाई पढ़ाई में कमज़ोर था, छोटा तेज़ था। बड़ा लज्जित हुआ तो कुएँ में कूद कर मरने गया। वहाँ उसने देखा कि जहाँ से पानी खींचते थे वहाँ पत्थर पर रस्सी से गड्ढा पड़ गया था। उसके मन में आया—'पत्थर की अपेक्षा अत्यन्त कोमल रस्सी भी बार-बार घिसने से पत्थर को काट डालती है तो बार-बार के परिश्रम से मैं भी पढ़ लूँगा।' वह लौट आया और परिश्रमपूर्वक विद्वान् बन गया। अतः वेदान्त का बार-बार श्रवण करने से आत्मवस्तु समझ में आ जाती है। तलवार भुथरी होने पर ज़ोर एवं परिश्रम अधिक करना पड़ेगा। साधक कुतर्क को मन ही मन में न घोटे, गुरु से निर्णय करा ले, अधिकारी द्वारा शंका समाधान करा लेवे। धर्म के विषय में धर्म-आचार्यों से पूछे तो कुतर्क हट सकता है। ब्रह्मनिष्ठ उसे ब्रह्म के बारे में ठीक उत्तर देंगे। शास्त्रों में ऐसी कोई बात नहीं जिसमें शंकाओं का उत्तर न हो। शास्त्रों में बड़ी सूक्ष्म शंकाओं का निर्णय किया है। एक आध्यात्मिक पत्रिका प्रकाशित होती है। एक उत्तम विद्वान् से उसमें ईश्वरसिद्धि-विषयक विस्तृत लेख माँगा। उन्होंने कहा प्रतिमास पाँच पृष्ठों के हिसाब से दो वर्षों में लेख पूरा होगा। संपादक ने स्वीकार लिया। वे ईश्वर के बारे में जो शंकाएँ हो सकती हैं उन सब का पहले पूर्वपक्ष-रूप में उपस्थापन करने लगे। इसी क्रम में नौ महीने बीत गये। संपादक के पास चिट्ठियाँ आने लगीं कि यह पत्रिका नास्तिकता का प्रचार क्यों कर रही है ? कहने का मतलब

यह है कि शास्त्रीय पद्धति से सोचोगे तो सूक्ष्माति-सूक्ष्म शंकाएँ भी सामने आयें तो उन्हें मिटा लोगे।

वेदान्त के भी गम्भीर युक्तिप्रधान अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें तार्किक ढंग से अद्वैत की स्थापना की गयी है। साधक का कर्त्तव्य है कि तर्क की कोई शंका मन में उठे तो इस प्रकार के ग्रंथों से उसे दूर कर ले क्योंकि मन में शंका-बीज रह गये तो निष्ठा नहीं होने देंगे। पुरुष भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा से सर्वथा बचा नहीं रहता अतः स्वयं की बुद्धि पर अत्यधिक भरोसा न कर सद्गुरु के उपदेश को ही महत्त्व देना चाहिये।

श्रुति और स्मृति नेत्र-स्थानीय हैं। धर्म और ब्रह्म का ज्ञान इन्हीं के द्वारा होता है। शास्त्रानुकूल ही प्रमाण है और शास्त्र-विरुद्ध, अप्रमाणित व्यक्तियों का विचार मान्य नहीं। उनका अंत भी नहीं और वे केवल दुराग्रह हैं। श्रुति-स्मृति के श्रवण-मनन द्वारा दुराग्रह से निवृत्ति हो जाती है। समस्त कषाय दोषों की निवृत्ति के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं।

परोक्ष व अपरोक्ष ज्ञान

शोक से उपलक्षित संसार से तरने का उपाय केवल एकमात्र आत्मज्ञान है। प्रतिबन्धक की निवृत्ति के बिना आत्मज्ञान की संभावना नहीं। सभी प्रतिबन्धकों को हटाने के लिये भिन्न-भिन्न उपाय बतलाये हैं। केवल ब्रह्म का ध्यान करने से सारे प्रतिबन्धकों से मुक्ति हो सकती है। अत्यंत बुद्धिमान् भी प्रतिबंधकवश कठिनता में पड़ जाता है और आत्मज्ञान की सामग्री एकत्रित नहीं होती। ज्ञान के लिये श्रेष्ठ गुरु की आवश्यकता है। केवल शास्त्र से जो सुना जाता है वह परोक्ष ज्ञान है। जिसने दूध नहीं पिया है उसे सुनाकर दूध का परोक्ष ज्ञान करा सकते हो किन्तु उसे अपरोक्ष ज्ञान दूध पीने पर ही होगा। इस प्रकार ज्ञान दो प्रकार का—(१) परोक्ष ज्ञान और (२) प्रत्यक्ष ज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान।

चाँदनी खिली हुई है; किन्तु बच्चे को ज्ञान नहीं कि चन्द्रमा क्या चीज़ है ? पिता बतलाता है, "जो सबसे प्रकाशमान है, वह चन्द्रमा है।" पिता के *वाक्य से* बच्चे को *अपरोक्ष* हो जाता है चन्द्र का। इसी प्रकार अंतःकरण शुद्ध हो, मनन कर लिया हो, गुरु ने साक्षात्कार कर लिया हो इत्यादि सारी तैयारी हो, तो श्रवण से साक्षात्कार हो जाता है। सारी शर्तें पूरी होना बड़ा कठिन है। इस आत्मतत्त्व के बारे में सुनने को भी नहीं मिलता है। सिनेमा अनेक मिलेंगे किन्तु सत्संग के स्थान बहुत कम। धूप में भी सिनेमा देखने की उत्सुकता होती है किन्तु सत्संग में रुचि नहीं होती ! समस्त सुविधायें होने पर भी आत्मश्रवण सुलभ नहीं। सुनना ही कठिन है तो विचार की प्राप्ति कैसे हो ? जो इन कठिनाइयों को पार न कर सके उसके लिये शास्त्र ने सरल मार्ग बताया कि वह परमात्मा की उपासना करे। इसके लिये न जीवन्मुक्त गुरु की आवश्यकता और न शिष्य को अधिक परिश्रम की आवश्यकता। उपासना से परोक्ष ज्ञान तो हो ही जायेगा। यद्यपि आत्मतत्त्व अपरोक्ष है अतः उसका परोक्ष ज्ञान भ्रमरूप है तथापि भ्रम के दो भेद होते हैं—(१) संवादी भ्रम, (२) विसंवादी भ्रम।

द्विविध भ्रम

भ्रम होने पर भी प्रवृत्ति सफल हो जाये तो भ्रम को संवादी कहते हैं तथा प्रवृत्ति विफल रहे तो भ्रम विसंवादी होता है। दीपक में मणि का भ्रम हो तो निकट जाने पर भी मणिलाभ न होने से भ्रम विसंवादी है किन्तु मणि-प्रभा में मणि का भ्रम हो तो निकट जाने से मणि मिल जाती है अतः भ्रम संवादी है। इसी प्रकार शास्त्रानुसार आत्मतत्त्व को परोक्ष समझना भ्रम तो है लेकिन उस ज्ञान पर निष्ठा रहे तो क्योंकि जिसके बारे में वह ज्ञान है वह वास्तव में आत्मा ही है इसलिये उस पर एकाग्र रहने से यथोपदेश उसकी अपरोक्षता भी समझ सकना सुसम्भव है जिससे उसे संवादी

भ्रम के स्थानापन्न समझना उचित है। अखण्ड आत्मा से अन्य नाम-रूपों के ध्यानों को विसंवादी भ्रम मानना पड़ता है क्योंकि वास्तविक आत्मतत्त्व नामरूपात्मक है नहीं। अखण्ड तत्त्व की उपासना में यह वृत्ति नहीं बनायी जाती कि आत्मा परोक्ष है ! वृत्ति तो यही बनाते हैं कि वह अपरोक्ष है किन्तु अपने में सामर्थ्य न होने से अपरोक्षता का अनुभव नहीं होता। शास्त्रश्रद्धा से वह ज्ञान प्रमारूप तो माना ही जाता है अतः यदि उसका विरोधी कोई ज्ञान न आये तो फलतः वह प्रमा ही रहेगा क्योंकि अबाधित सत्य ज्ञान प्रमा ही होता है।

भ्रम के ये भेद समझने ज़रूरी हैं। भ्रम होने पर भी कोई हितकारी है, कोई बेकार का या अनर्थकारी भी है। विष्णु शंकरादि को परमात्मा समझना हितकारी भ्रम है और शास्त्र छोड़कर चाहे जिसे ईश्वर समझा तो हित नहीं वरन् अहित ही होगा। एक आदमी ने किसी महात्मा से पूछा 'सबसे बड़े भगवान् कौन हैं ? मैं उनकी पूजा करूँगा।' महात्मा ने शास्त्रीय निर्णय समझा दिया कि शिव जी ही सबसे बड़े हैं और अनेक कथा-आख्यानों से इसे पुष्ट भी कर दिया। वह व्यक्ति पूजा करने लगा। कुछ दिनों बाद पूजा करते समय उसने देखा कि शिवलिंग पर रखा प्रसाद चूहा खा रहा है ! उसने सोचा 'शिवजी से तो यह चूहा ही तगड़ा है ! उन पर चढ़कर मिठाई खा रहा है, वे इसे रोक भी नहीं पा रहे।' उसने शिव जी को छोड़ कर उस चूहे को ही पूजना प्रारंभ कर दिया। एक दिन बिल्ली चूहे पर झपटी तो चूहा डरकर भागा। भक्त ने निर्णय किया कि बिल्ली उससे भी बड़ी भगवान् है और वह बिल्ली पूजने लगा। कुछ दिनों बाद देखा कि उसकी पत्नी दण्डा दिखाकर डपटती है तो बिल्ली दुबक जाती है ! वह समझ गया कि बिल्ली से भी बड़ी भगवान् तो उसकी पत्नी ही है ! वह पत्नी-पूजक बन गया। पूजा पाते-पाते स्त्री सिर चढ़ गयी। एक दिन पति को गुस्सा आया और उसने पत्नी को तमाचा मारा तो बेचारी रोनी लगी। उस

आदमी ने सोचा 'अरे ! इससे तो मैं ही बड़ा भगवान् हूँ ! व्यर्थ ही इतने दिन औरों को पूजता रहा !' वह स्वयं को ही ईश्वर मानने लगा। शास्त्र छोड़कर चलो तो यों भटकते ही जाओगे, शिवपूजा की जगह खुद को पूजने लगोगे। किन्तु यदि शास्त्र का अनुसरण किया तो भ्रम को भी हितकारी बना सकते हो।

जब उन महात्मा को पता चला कि उनका शिष्य स्वयं ईश्वर बन बैठा है तो वे पुनः उससे मिले। उन्होंने पूछा 'तू ईश्वर है ?' वह बोला 'हाँ।' 'तेरी सारी इच्छाएँ तत्काल पूरी होती हैं ?' वह सोच में पड़ गया। महात्मा ने पूछा 'तू हमेशा रहता है ?' वह क्या बोलता ! महात्मा बोले 'जीवित दशा में भी क्या तू सदा एक-सा है ? जैसा जाग्रत् में है क्या वैसा ही स्वप्न में होता है ? सुषुप्ति में तेरा क्या स्वरूप रहता है ?' बाकी उपाधियों से तो उसका भाव हट ही चुका था, स्वयं की उपाधि का जब इस प्रकार महात्मा ने विवेक कराया तब वह धीरे-धीरे त्वम्पदार्थ का वास्तविक रूप समझ गया। अतः ग़लत अनुभव को भी शास्त्र के अनुसरण से सही ज्ञान का उपाय बनाया जा सकता है और सही बात भी, यदि शास्त्र-विरुद्ध ढंग से चलने लगे तो ग़लत जगह पहुँचा देगी जैसे उस व्यक्ति को 'सबसे प्रबल हैं' यों शिव जी की महत्ता तो सही ही बतायी थी पर प्रबलता के मनमाने अर्थ से वह नास्तिक-सा बन गया जबकि देह-मन से परिच्छिन्न स्वयं को ईश्वर समझना बात ग़लत है पर उसी स्वयं की परीक्षा से वह आत्मतत्त्व तक पहुँच गया। अतः भ्रम के संवादी-विसंवादी भेद समझना ज़रूरी है, शास्त्रानुसार ही विचार में प्रवृत्त होना भी ज़रूरी है।

संसार अपरोक्ष दीख रहा है। अतः 'अपरोक्ष ज्ञान' द्वारा ही इसका बाध होता है। सत्संग में परमेश्वर का जो स्वरूप समझो उसी का ध्यान करते रहो। इससे परोक्ष ज्ञान तो हो जायेगा पर वह संसार-भ्रम नहीं मिटा पायेगा। सारे अनर्थ के मूल इस अज्ञान को तो अपरोक्ष अखण्ड साक्षात्कार ही दूर कर सकता है जो

साधन-संपत्ति की पुष्कलतापूर्वक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से वेदान्तों के श्रवणादि से ही संभव है। निर्विशेष-उपासना करते रहने से निर्विशेष समझना सरल अवश्य हो जाता है।

आत्मविद्या की प्राप्ति में साधक और बाधक का ज्ञान आवश्यक है, बाधकों से बचना पड़ेगा। अग्नि जलाने के लिये दियासलाई, मिट्टी का तेल, लकड़ी, चिथड़े साधक हैं; किन्तु पानी इत्यादि बाधक हैं; हवा के प्रकोप अथवा अभाव में अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। आत्म-ज्ञान में शम दमादि साधक हैं और लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वाद बाधक हैं। लय—नींद आना। नींद से बचने के लिये टहलना चाहिये। क्योंकि ये प्रतिबंधक क्रमशः एक-दूसरे से सूक्ष्म हैं, इसलिये इन्हें एक-एक कर जीतना पड़ेगा। एक को संभालते समय दूसरे की चिंता मत करो। लय का विरोध करने के लिये चित्त को जाग्रत् करो। किंतु इससे वह विक्षेप की ओर जायेगा; तब उसे शांत करो। विक्षेप के बीज जो कषाय हैं उन्हें विवेक से निस्तेज करो। समाधि में जो सुख है उसे विषयरूप से ग्रहण करने का जो मज़ा है उससे बचो, वहाँ रसास्वाद मत लो।

जिस प्रकार बद्री नारायण की चढ़ाई में एक के बाद दूसरी पर्वत-श्रेणि पार करनी हो तो कभी ऊँचा चढ़ो फिर उतना ही नीचे उतरो; इसी प्रकार परमात्म-प्राप्ति में बाधक भी कोई ऊँचे हैं, जैसे समाधि का रसास्वाद, और कोई नीचे हैं, जैसे लय; सभी को पार करना ही पड़ता है। जब नींद भी नहीं, विक्षेप भी नहीं, कषाय भी नहीं, रसास्वादन भी नहीं तब आनन्द का स्फुरण होने लगता है। इस महान् आनंद के लिये रसास्वाद के लोभ से बचना ज़रूरी पर मुश्किल है। मारवाड़ में जिसे बूँद-बूँद पानी के लिये तरसना पड़ता है उसे गंगा जी दिखाकर कहो 'इनके चक्कर में मत पड़ो, तुम्हें समुद्र तक ले चलते हैं' तो वह धैर्य नहीं रखेगा, गंगा में ही उतर जायेगा। चींटी को शक्कर का गोदाम मिल जाये तो चीनी फैक्ट्री तक जाने का धैर्य नहीं रख सकती। इसी तरह साधक व्यापक

आनंद के लिये समाधि के अतिसात्त्विक सुख को छोड़ नहीं पाता; किन्तु यह आनन्द ही प्रतिबंधक है। बहुत-से साधक यहाँ आकर अटक जाते हैं। विषयाकर्षण छोड़ने पर भी यह रसास्वाद छोड़ना अतिकठिन और तीव्र विवेक से ही साध्य है। सुख लेते हो तो सुख में और लेने वाले में भेद है, अतः व्यापकता नहीं रही। सुखग्रहण का आरंभ भी है अतः वह नित्य नहीं। शास्त्र स्पष्ट कहता है कि परमार्थ आनंद में ग्रहण या छोड़ना नहीं, प्रारंभ नहीं, समता है, चिन्ता नहीं; समाधिसुख में ऐसे आनंद की काफी समानता तो है, लेकिन है वह परिच्छिन्न सुख ही। कपड़े की गुड़िया और बर्फ़ की गुड़िया समान होती हैं पर समुद्र में डाल दो तो बर्फ़ वाली समुद्र ही हो जायेगी, कपड़े वाली नहीं हो पायेगी। ऐसे ही तत्त्वनिष्ठा बर्फ की गुड़िया है जो आत्ममात्र रह जायेगी और समाधि का रस कपड़े की गुड़िया है जो परिच्छिन्न ही रहेगा। ध्याता-ध्यान-ध्येय-तीनों से परे जाने पर ही अखंडस्थिति होती है।

रामकृष्ण परमहंस काली के उपासक थे। चिन्तन, जप, साधना के पश्चात् जो साक्षात्कार के लिये कोशिश करते हैं उनके प्रारब्ध से स्वयं भगवान् पथप्रदर्शन करते हैं। एक बार स्वामी तोतापुरी वहाँ पहुँचे। रामकृष्ण का पूर्वनाम गदाधर था।उन्होंने विचारदृष्टि से देख लिया कि यह अच्छा साधक है। पूछा, "तेरी क्या साधना है ?" गदाधर ने कहा "महाराज ! मुझे इष्ट-दर्शन होता है।" वे बोले "इससे आगे भी बढ़ो। तुम में योग्यता भी है और आयु भी।" आगे की साधना बतायी, संन्यास-दीक्षा दी। वे अद्वैत तत्त्व का ध्यान करने लगे; लय, विक्षेप, कषाय का तो नाम भी नहीं था ! किन्तु सब चित्तवृत्तियों को एकाग्र करते तो भगवती सामने खड़ी हो जाती! अखंड ज्योति का दर्शन नहीं होता था। बार-बार प्रयत्न भी किया किन्तु उस आनन्द से आगे बढ़ नहीं पाये, आनन्द ही भगवती के रूप में साक्षात् अनुभव होने लगा। योग्य गुरु शिष्य को छोड़ता नहीं।

तोतापुरी ने धीरे-धीर स्पष्ट किया कि विवेक की तलवार से देवी के भी नामरूप को सच्चिदानंदांश से पृथक् कर निस्तत्त्व समझना है। जैसे घट-पटादि में दृश्यांश बाध्य है ऐसे दिव्य विग्रहों में भी; क्योंकि नाम-रूपता समान ही है। काली-विग्रह में इस विवेक का प्रयोग करने में गदाधर को बहुत कठिनाई हुई तो गुरु ने हठात् भ्रूमध्य में उनका चित्त आकर्षित करने के लिये एक काँच ठोक दिया। उस स्थिति में जब सभी नाम-रूप ओझल होकर चिन्मात्र अनावृत हुआ तब परमहंस का प्रतिबंधक हटा।

इस प्रकार रसास्वाद को छोड़ना पड़ता है। आनन्द का स्फुरण होना अच्छा लगता रहे तो ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। पहले साकार उपासना करना आवश्यक है लेकिन अन्त में उसका परित्याग करके ही निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति संभव है, जिस प्रकार नदी पार करने के पश्चात् नौका का सर्वथा परित्याग आवश्यक है। अतः विचार करने की आवश्यकता है। सारे प्रतिबंधकों से रहित होने पर ही आत्मज्ञान शोक से परे पहुँचाता है।

ज्ञान का दृष्ट फल

शोक स्वसंवेद्य वस्तु है। जैसे सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास जिसे लग रही है वही उसे जानता है ऐसे ही शोक जिसे है वह उसे स्वयं जानता है। ऐसा नहीं कि कोई बताये 'तुम्हे शोक है' तब पता चले कि 'मुझे शोक है !' ऐसे ही तत्त्वज्ञान से शोकनिवृत्ति भी खुद पता चल जाती है, किसीसे पूछना नहीं पड़ता। जब शोक है तब तक निश्चित जानो कि आत्मज्ञान नहीं हुआ। कुछ कर्मादि का दृष्ट फल होता है अर्थात् तब तक क्रिया करनी पड़ती है जब तक फल न हो जाये, जैसे कुल्हाड़ी तब तक चलाते हो जब तक लकड़ी कट न जाये। कहीं फल अदृष्ट होता है अर्थात् क्रियादि करने के बाद तुम क्रिया से निवृत्त हो जाते हो और उचित समय पर फल सामने आ जाता है जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ संपन्न कर देते हो और मरने के

बाद स्वर्ग मिल जाता है। कहीं दृष्टादृष्ट दोनों फल होते हैं, जैसे यज्ञ में आहुति देने के लिये धान कूटकर चावल निकालते हो तो चावल निकलना दृष्ट फल है और वैध कूटने से उनमें *अपूर्व* उत्पन्न हुआ, वह अदृष्ट फल है। लौकिक दृष्टांत समझ लो : सिर-दर्द मिटाने के लिये एस्प्रो खाई तो तुरंत दर्द दूर हुआ, अतः दृष्ट फल है। यदि होम्योपैथिक दवा खाई तो दवा खाने के सात दिन बाद दर्द दूर होगा, अतः अदृष्ट फल है। यदि कोई ऐसी दवा खा ली जो दर्द तो तत्काल मिटा दे पर कालांतर में कोई गंभीर प्रतिक्रिया करे तो दृष्टादृष्ट दोनों फल हो गये। शास्त्रीय कर्मों का प्रायः अदृष्ट फल होता है। उपासना आदि यहाँ भी शांति देते हैं, आगे भी उत्तम लोक आदि देते हैं, अतः उनका दृष्टादृष्ट फल है। आत्मज्ञान का फल दृष्ट है क्योंकि आत्मज्ञान होते ही शोकादि समेत अज्ञान समाप्त हो जाता है। शोकनिवृत्ति रूप स्वसंवेद्य प्रत्यक्ष फल हो जाने से 'मुझे ज्ञान हुआ या नहीं?' इस शंका को कोई स्थान नहीं है। अपने त्रिविध तापों का नाश ही इसमें पर्याप्त प्रमाण है कि तत्त्वज्ञान हो गया। इसीलिये उपनिषत् कहती है कि यहीं, अधिकारि-शरीर में ही तत्त्वनिष्ठा पा लो; यहाँ न पा सके तो आगे महान् विनाश ही होगा !

जैसे 'सुपर मार्केट' में एक ही जगह सारे सौदे मिल जाते हैं ऐसे ही वेद में पूर्ण व अपूर्ण सारे फलों के साधन उपदिष्ट हैं। अपनी इच्छा व योग्यता के अनुसार जो लेना चाहो उसके साधन अपना लो। पूर्ण फल के लिये साधन भी पूर्ण करना पड़ेगा ! असली हीरा खरीदना है तो दाम भी ऊँचे ही देने पड़ेंगे। आत्मा पूर्ण वस्तु है। यद्यपि उससे यह जड-चेतन सारा जगत् उत्पन्न हुआ है तथापि उसकी पूर्णता में कमी नहीं आती। एक दिये से चाहे सौ दिये जला लो, क्या उस दिये में कोई कमी आती है ? वह पूर्ण दिया ही बना रहता है और उससे जले बाकी दिये भी पूर्ण ही रहते हैं। या सूर्य के पचास प्रतिबिम्ब पड़ जायें तो क्या सूर्य की पूर्णता

में कोई कमी आती है ? और प्रतिबिम्ब भी पूरा ही पड़ता है। सोने से गहना बनाते हो; वहाँ भी पूरा गहना बन जाने से सोने की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। ऐसे ही जीव-जगत् बन जाने पर भी परमात्मा ज्यों का त्यों रहता है। गहना टूटने पर भी सोने में कमी नहीं आती, इसी प्रकार जीव-जगत् का बाध हो जाने पर भी परमात्मा वैसा का वैसा रहता है। न संसारभ्रम होने से उसमें कोई कमी आती है और न यह भ्रम मिटने से कोई बढ़ोतरी होती है। वह तो सदा पूर्ण ही है। इस पूर्णता का अनावरण होने पर ही शोकनिवृत्ति संभव है।

पूर्ण अर्थात् अपरिच्छिन्न। परिच्छिन्न कहते हैं सीमित को। सीमाएँ तीन प्रसिद्ध हैं—देश, काल और वस्तु। आप दिल्ली में हैं तो कलकत्ता में नहीं अतः देश से सीमित हैं। आज हैं तो सौ साल आगे-पीछे नहीं, अतः काल से सीमित हैं। आप मनुष्य हैं तो घड़ा कपड़ा नहीं हैं, अतः वस्तु से सीमित हैं। संसार के अंदर जो चीज़ें व्यापक मानी जाती हैं उनमें भी एक सीमा न रहने पर भी अन्य सीमाएँ रह ही जाती हैं, जैसे आकाश देश से सीमित न होने पर भी उत्पत्ति-नाश वाला होने से काल से सीमित है और अन्य वस्तुओं से सीमित है ही। काल स्वयं देश-काल से सीमित न होने पर भी अन्य वस्तुओं से सीमित है ही। किन्तु परमात्मतत्त्व तीनों ही सीमाओं से वर्जित है। देशादि स्वयं ही आत्मसत्ता पर निर्भर हैं अतः आत्मा के बिना देश-काल-वस्तु संभव ही नहीं कि आत्मा उनसे सीमित हो। देशादि की सिद्धि भी आत्मा पर निर्भर है अतः आत्मा के बिना सिद्ध ही न हो सकने से ये उसे सीमित कर सकें इसकी कोई संभावना नहीं।

पदार्थशोधन

आत्मज्ञान से शोकनिवृत्ति सुनकर प्रश्न होता है कि हम स्वयं आत्मा हैं और खुद को जानते ही हैं, तो हमारा शोक मिट क्यों

नहीं रहा ? उत्तर है कि 'आत्मा' से हम जो समझते हैं और श्रुति जिसे आत्मा कह रही है वे एक नहीं हैं ! आत्मा के तीन रूप हैं—मुख्य, मिथ्या और गौण। तुम्हें पता है कि वह आत्मा नहीं है पर उससे तुम व्यवहार आत्मा का करते हो तो ऐसे को गौण आत्मा कहा जाता है। जैसे पुत्र को तुम आत्मा मानकर व्यवहार कर लेते हो पर जानते हो कि है वह स्वतंत्र व्यक्ति, अतः पुत्र को गौण आत्मा कहा जायेगा। जब तुम्हें पता नहीं कि वह अनात्मा है और उसे तुम आत्मा ही समझते हो तब वह मिथ्या आत्मा कहलाता है। जैसे शरीर-मन आदि हैं अनात्मा, लेकिन समझते इन्हें तुम आत्मा हो इसलिये ये मिथ्या आत्मा हैं। सच्चिदानन्द प्रत्यक् पूर्ण तत्त्व मुख्य आत्मा है। अभी हम आत्मा को जानते तो हैं लेकिन गौण और मिथ्या आत्मा हो ही जानते हैं जबकि शोकनिवारक ज्ञान बताया जा रहा है मुख्य आत्मा का। मुख्य आत्मा को खोजने कहीं दूर नहीं जाना है ! हमें प्रतीयमान आत्मा में, मिथ्या आत्मा में ही मुख्य आत्मा भी छिपा है। जैसे दूध में ही घी छिपा है, पर यों ही दूध देखो तो घी नहीं मिलता, खास ढंग से दूध से घी निकाल सकते हो; इसी प्रकार मिथ्या आत्मा का शास्त्रानुसार विवेक करने से ही मुख्य आत्मा का साक्षात्कार संभव है। घी निकालने के लिये पहले दूध को तपाना पड़ता है, फिर ठंडा करना पड़ता है, तब जामन लगाते हो और दही जम जाने पर मथते हो जिससे निकला मक्खन गर्म करने से घी तैयार होता है। इसी प्रकार शुद्ध तपस्या द्वारा स्वयं को, मिथ्यात्मा को, तपाना पड़ेगा; भक्ति से उसे ठंडा करना पड़ेगा; श्रवणरूप जामन लगाना पड़ेगा; मननरूप मंथन करके प्राप्त मक्खन को निदिध्यासन में पका लो तो आत्मज्ञानरूप घी उपलब्ध हो जायेगा। जैसे घी बन जाने पर वह फिर छाछ में नहीं घुलता ऐसे ही मुख्य आत्मा निरावृत हो जाने पर फिर शरीरादि में अध्यास संभव नहीं। भेदभूमि में रहते इष्ट-अनिष्ट रहेंगे ही अतः शोक-मोह से नहीं छूट सकते। जब सारे

भेद निवृत्त हो जाते हैं तभी पूर्णता प्राप्त होती है और शोक-मोह से उपलक्षित संसार की आत्यंतिक निवृत्ति होती है।

पूर्णाकार बोध

किसी भी ज्ञान के लिये नियम है कि जिसका ज्ञान है मन उसी के आकार का होता है। कपड़े के आकार की मनोवृत्ति हो तभी कपड़े का ज्ञान होता है अन्यथा कपड़ा रहते भी कपड़े का ज्ञान नहीं होता। किं च यदि मन कपड़े का आकार ग्रहण कर ले तो बिना कपड़े के भी प्रतीत हो जाता है कि कपड़े का ज्ञान हुआ, जैसे सपने में विषय तो होते नहीं किन्तु क्योंकि मन विषयों का आकार ले लेता है इसलिये सारे विषय दीख जाते हैं। इसी प्रकार पूर्ण आत्मा होने पर भी अंतःकरण जब तक पूर्ण ब्रह्म के आकार की वृत्ति नहीं बनाता, तब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता। मन को पूर्ण-आकार का बनाने की आवश्यकता है। परमात्मा सामने होता तो मन उसका आकार बना लेता किन्तु परमात्मा निराकार है ! अतः परमात्मा के गुणों को मन में धारण करना चाहिये। परमात्मा घड़े-कपड़े की तरह होता तो उसके भी आकार की वृत्ति बनाना संभव था किन्तु वह है निराकार, अतः उसके 'आकार' की वृत्ति कैसे बने ! परमात्माकार वृत्ति का मतलब है कि *जैसा* परमात्मा है वैसा मन बने। आचार्य शंकर ने गीताभाष्य में (१८.५०) इस पर विचार कर निर्णय दिया है कि 'अत्यन्तनिर्मलत्व-स्वच्छत्व-सूक्ष्मत्वोपपत्तेः आत्मनो, बुद्धेश्च आत्मसमनैर्मल्याद्युपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्वोपपत्तिः।' आकार-शब्द से नाम-रूप समझें तो वे परमात्मा में नहीं हैं यह ठीक है, किंतु *असाधारण स्वरूप* को आकार समझें तो वह परमात्मा का है ही। शास्त्र स्पष्ट बताता है कि आत्मा अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त स्वच्छ, अत्यन्त सूक्ष्म है। बुद्धि भी जब अत्यन्त निर्मल-स्वच्छ-सूक्ष्म हो जाये, तब उसे आत्माकार की ही मानना पड़ेगा। अतः परमात्मा के स्वभावभूत स्वच्छतादि की

तरह बुद्धि को भी जब स्वच्छादि बना लेंगे, तब आत्मज्ञान सम्भव है। हम अपने को शरीर-मन आदि मानकर ही राग-द्वेष आदि से ग्रस्त होते हैं, यदि व्यापक निर्लेप स्वरूप हमें ध्यान रहे तो कोई कामनादि दोष उत्पन्न नहीं होगा। व्यापक के लिये कुछ अप्राप्त नहीं और प्राप्त की किसी को कामना नहीं होती ! भगवान् ने गीता में (३.२२) यह रहस्य खोला है

'न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।'

अतः जो पूर्ण आत्मा पाना चाहे वह भी इसी प्रकार कर्म करे : किसी डर के बिना तथा किसी लालच के बिना वह करे जो करना शास्त्रादि द्वारा उचित बताया गया है।

आत्मा की पूर्णता, व्यापकता निर्विवाद है। लोक में सबसे जल्दी और सबसे दूर जाने वाला माना जाता है मन को और आत्मा उससे भी तेज़ गति वाला किन्तु निश्चल तत्त्व बताया गया है! यह तभी सम्भव है जब आत्मा सर्वत्र सर्वदा मौजूद है। दार्शनिक तथ्य ही पुराणों में भगवल्लीलाओं से समझाये गये हैं। ग्राह की पुकार पर भगवान् वहीं प्रकट हो गये क्योंकि थे वे पहले भी वहाँ; केवल तब तक अप्रकट थे, प्रार्थना से द्रवित होकर प्रकट हो गये। परमात्मा में आवागमन नहीं होता क्योंकि हैं ही वे व्यापक। देवकीनन्दन का दृश्य रूप तो द्वारका में था लेकिन द्रौपदी की प्रार्थना पर तत्क्षण वे वस्त्राकार में उपस्थित हो गये क्योंकि कहीं से चलकर तो आना नहीं था और कपड़ा भी कहीं से लाना नहीं था ! कवियों ने कहा है—

'विधीयते यद् यदुनन्दनेन नापेक्ष्यते तत्र सहायशक्तिः।
पाञ्चलबालाऽञ्चलदीर्घतायै न तत्र तन्तुर्न च तन्तुवायः।।'

अतः पुराणादि-प्रसिद्ध लीलाओं से परमेश्वर की निःसीम पूर्णता ही निश्चित होती है। इसी के निश्चय से समस्त कामनायें मिट सकती हैं। जहाँ-कहीं भी भोग हो रहा है—चाहे इंद्र करे या धरती पर कोई

राजा करे—उस शरीर में विद्यमान वही आत्मा है जो मेरे शरीर में है; 'यश्चायं पुरुषे यश्चादित्ये स एकः'—इस अनुभव वाले को न कुछ अप्राप्त है, न प्राप्तव्य है, अतः किसी से झगड़े की भी कोई संभावना नहीं है। ज्ञानी के लिये 'सब कुछ मेरा है' इसलिये झगड़ा नहीं, भक्त के लिये 'सब कुछ तेरा है' इसलिये झगड़ा नहीं ! हर हालत में, द्वैत की धूल झड़ जाये तभी कामना का पूरी तरह निरास होगा, तभी शांति मिलेगी। न आत्मा दो या अनेक हो सकते हैं और न ईश्वर एक से ज़्यादा हो सकते हैं। पश्चिमी ईश्वरवादी यद्यपि 'एक ईश्वर है' यह मानते हैं तथापि उनका ईश्वर व्यापक, पूर्ण, अप्रतिहतशक्ति वाला नहीं है, अतः वह स्वयं भी शैतान से त्रस्त रहता है और अपने मानने वालों से भी चाहता है कि वे किसी 'दूसरे' को प्रणाम न करें ! इतनी भेदनिष्ठ रहने से ही पाश्चात्य संस्कृति अशांति, छीना-झपटी की संस्कृति है।

वैदिक संस्कृति पूर्णता, समग्रता की है; हमारा ईश्वर भी पूर्ण है, हम भी पूर्ण हैं; ईश्वर ने जो किया वह भी पूर्ण है। पूर्णता जब सभी स्तरों पर स्वीकार हो तभी परस्पर विरोध का समूल नाश संभव है। अतः उपासना भी अपरिच्छिन्न परमेश्वर की ही करनी चाहिये। परिच्छिन्न ससीम चाहे जितना बड़ा हो, उसकी उपासना करना व्यर्थ है क्योंकि उससे स्वयं को पूर्णता मिलेगी नहीं और उसके बिना आनंद दुर्लभ है। नामदेव की कथा प्रसिद्ध है कि बाद में जिन्हें उन्होंने गुरु बनाया वे शिवलिंग पर पैर रखे सो रहे थे, नामदेव ने टोका तो बोले 'जहाँ शिव न हो वहाँ मेरे पैर रख दो।' नामदेव पैर पकड़कर घुमाते गये पर चारों तरफ उन्हें लिंग दीखने लगे ! वे रहस्य समझ गये। इस पूर्णात्मता की दृष्टि के लिये ही सारी साधना है।

स्वयं पूर्ण हुए बिना पूर्ण परमात्मा ठीक-ठीक समझ नहीं पाओगे। जो डाक्टर नहीं वह दो डाक्टरों की बात-चीत सुने तो समझ नहीं पाता, ग़ैरव्यापारी भी व्यापारियों की बातें समझ नहीं

पाता। सर्वत्र यह नियम है कि अपने ढंग से ही दूसरे को समझ सकते हो अतः स्वयं पूर्ण बनोगे तभी परमात्मा को पूर्ण समझोगे। पूर्ण की भाषा पूर्ण के ही समझ में आती है। समस्त कर्म स्वभाव से ही हो रहे हैं ऐसा जानो और अपने में पूर्णत्व का अनुभव करो तभी 'आत्मज्ञान' संभव है।

एक जिज्ञासा होगी कि यदि आत्मा परिपूर्ण ही है और वही वेद का प्रतिपाद्य है तो जगह-जगह वेदों में इंद्रिय-मन-प्राण-शरीर और यहाँ तक कि पुत्र को भी 'आत्मा' कहा क्यों है ? इसका समाधान आचार्यों ने स्पष्टतः किया है : हमें आत्मा के बारे में भ्रम अतः अज्ञान है यह निर्विवाद है। अज्ञान मिटाने के लिये प्रमाण चाहिये। प्रत्यक्ष आत्मा को विषय करता नहीं अतएव तन्मूलक अनुमान भी आत्मा में प्रमाण बनता नहीं। इसलिये शब्द से ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझाना पड़ेगा। शब्द 'ज्ञात' से ही 'अज्ञात' तक पहुँचाता है। आत्मा-रूप से जो हमें ज्ञात है उसका सहारा लेकर ही अज्ञात आत्मा को समझना शब्द से संभव है। अतः वेद ने पुत्रादि उन चीज़ों को भी 'आत्मा' कहकर बताना शुरू किया जो *वास्तव* में आत्मा हैं नहीं। इसे 'स्थूलारुन्धतीन्याय' कहते हैं : अत्यंत छोटा अरुंधती-तारा दिखाने के लिये उसके निकट के स्थूल तारे पर दृष्टि पहले स्थिर करायी जाती है तब अरुन्धती दीख जाती है अन्यथा नज़र भटकती रहती है। मुख्य आत्मा तो अरुन्धती से अनन्त गुणा सूक्ष्म है ! अतः उसे समझाने के लिये गौण और मिथ्या आत्माओं का सहारा सर्वथा संगत और ज़रूरी है। भीड़ में कोई राजा या राष्ट्रपति उपस्थित हो तो दूर से ही उसे किसी बालक आदि को दिखा सकते हो। तब भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है—पहले पुलिस वाले दिखाओगे, फिर भीतरी घेरे वाले सैनिक दिखाओगे, फिर छत्र आदि दिखाकर तब राजा का निर्देश करोगे। सीधे ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म मुख्यात्मा का प्रतिपादन हो नहीं सकता, वहाँ तक बुद्धि की पहुँच नहीं। अतः निर्णय किया है कि

वेद में आत्मतत्त्व के विषय में ही निरूपण है; जो अनेकानेक सिद्धान्त प्रतिपादन किये गये हैं वे 'उपायः सोवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन', अभेदरूप आत्मतत्त्व तक पहुँचने की सीढ़ियाँ ही हैं, उपाय ही हैं; उपेय तो अखण्ड पूर्ण आत्मवस्तु ही है। श्रुति ने सीधे ही शुद्ध आत्मा का विवेचन नहीं किया बल्कि यह बताया कि पुत्र, शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन आदि जिस-जिसको आत्मा समझते हो उन पर क्रमशः दृष्टि एकाग्र करते जाओ तब अंत में मुख्य आत्मा स्पष्ट होगा। उन सबका कथन प्रधान के अवगमार्थ है। जिस प्रकार वर्णों की शिक्षा क-ख आदि के अवबोधार्थ नहीं वरन् इसलिये है कि वे वाक्यों को समझाने के लिये उपाय हैं। या, जैसे लोक में भी दृष्टान्त से किसी बात को समझाया जाता है। उसी प्रकार हृदयंगम करने के लिये श्रुति ने मिथ्या आत्मा तथा गौण आत्मा बतलाये, तात्पर्यतः तो उनसे मुख्यात्मा का ही प्रतिपादन किया है।

बहुत-से लोग शरीर प्राणादि को ही आत्मा मान लेते हैं। जब तक अंतःकरण शुद्ध होकर सारे दोषों से निवृत्ति न हो जावे, तब तक वैराग्य की उत्पत्ति में अनेक विघ्न बाधा डालते हैं और विषयासक्ति इत्यादि मुख्यात्मा की ओर जाने नहीं देती। अतः वैराग्य को प्राप्त करने के पश्चात् ही मुख्यात्मा की प्राप्ति हो सकती है। दक्षिण देश में एक ब्राह्मण था, उसे भोजन बड़ा प्रिय था; 'ब्राह्मणो भोजनप्रियः।' उसने एक सेठ के पास पाँच हज़ार रुपये जमा किये। सेठ को घाटा हो गया। एक बार ब्राह्मण उसके पास पहुँचा। सेठ ने ब्राह्मण को आता देखकर विचार किया कि पैसा पास है नहीं, कैसे टालें? वह बड़ा बुद्धिमान् था; दूकान से उठकर साष्टाङ्ग दंडवत् किया और कहा "मुझे यज्ञ करवाना था, अतः मैं आपको बुलाना ही चाहता था।" मिष्टान्न खिलाया, तत्पश्चात् स्नान इत्यादि का प्रबन्ध किया और बढ़िया भोजन कराया। कहा 'आपकी कृपा से बड़ा अच्छा कार्य चल रहा है।' फिर रुद्राभिषेक कराया, ग्यारह रुपये दक्षिणा दी। कुल पच्चीस रुपये खर्च किये लेकिन इससे ब्राह्मण इतना प्रभावित हुआ कि अपना धन माँगे बिना ही लौट गया! इसी प्रकार हम लोगों का सारा धन तो परमात्मा के पास जमा है। हम जब लेने जाते हैं तब वे सांसारिक भोग हमें प्रदान कर देते हैं। हैं तो ये भोग अतितुच्छ, हमारी जमा पूर्णता के सामने इनकी कुछ भी कीमत नहीं, लेकिन इनसे हम ऐसे प्रभावित हो जाते हैं कि उस पूर्णता की माँग ही छोड़ देते हैं! अतः संसार के प्रति बिना वैराग्य के यह संभव ही नहीं कि हम मुख्य आत्मा के जिज्ञासु बनें। सांसारिक भोगों के लिये उपाधिरूप आत्मा आवश्यक है। यदि हमें भोग चाहिये तो इन उपाधियों को छोड़ने की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। लेकिन इन्हें छोड़े बिना मुख्य आत्मा की प्राप्ति ही असंभव है। अतः संसार से वैराग्य होने पर ही आत्मविवेक तीव्र कर मुख्य आत्मा को समझने का प्रयास करना पड़ेगा।

पूर्णता मुख्यात्मा का स्वरूप है। इसी प्रकार आनन्दरूपता भी मुख्यात्मा का रूप है। मिथ्या आत्मा और गौण आत्मा बने रहने से आनन्दरूपता की प्राप्ति नहीं, केवल दुःख हो सकता है। सुखरूप है आत्मा, मनुष्य आत्मा के सुख को मन में आरोपित कर लेता है और दुःख को आत्मा में आरोपित कर लेता है! ये दोनों भ्रान्तियाँ हैं। स्फटिक के पास जिस रंग की वस्तु पड़ी होगी स्फटिक भी उसी रंग का दीखता है क्योंकि स्फटिक का अपना कोई रंग नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में दुःख किंचित् भी नहीं और मन में सुख का नामो-निशान नहीं फिर भी आत्मा में दुःख और मन में सुख दीखता है तो भ्रम से ही दीख सकता है। पानी स्वभावतः शीतल होता है, अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि पानी ठंडा क्यों ? लेकिन गर्म मिले तो प्रश्न उठता है कि बद्रीनारायण में कुण्ड का पानी गर्म क्यों ? स्वभाव के लिये कोई प्रश्न नहीं उठता। जीव भी स्वभाव से आनंद है अतः कोई शांति से प्रसन्न बैठा हो तो प्रश्न नहीं

उठता कि तुम्हें प्रसन्नता क्यों ? लेकिन थोड़ा भी दुःखी हो तो प्रश्न उठता है और वह जवाब भी देता है कि अमुक कारण से दुःख है। दुःख हमेशा सकारण होता है, आनंद में कोई कारण नहीं, वह स्वभाव से रहता है। जहाँ कहीं लगता भी है कि विषय लाभ से सुख हुआ वहाँ भी कामना के दुःख को मिटाने में ही विषय का उपयोग है, सुख देने में नहीं, क्योंकि आत्मा सुखस्वरूप है। इसीलिये जैसे चाहे-जितना खौलाया पानी हो, आँच से उतार दो तो धीरे-धीरे ठंडा ही होता जायेगा क्योंकि ठंडक ही उसका स्वभाव है वैसे जीव चाहे-जितना दुःखी हो दुःखहेतु दूर हो जाने पर शनैः शनैः वह सुख की ओर ही बढ़ेगा क्योंकि वही उसका स्वभाव है।

जिस प्रकार स्फटिक रंग वाला दीखने पर भी जानते हो कि वह रंग वाला नहीं है उसी प्रकार दुःख वाला दीखते समय भी आत्मा दुःख वाला नहीं है यह समझना संभव है। इसका उपाय क्या ? स्फटिक को अलग-अलग चीज़ों की सन्निधि में देखते हो तो विभिन्न रंगों का दीखता जाता है जिससे समझ आता है कि वे कोई भी उसके रंग नहीं। ऐसे ही मन का संबंध रहने पर दुःख और न रहने पर निर्दुःख आनंद, यह सुषुप्ति-समाधि के अनुभवों से स्पष्ट हो जाता है, जिससे निर्णय हो जाता है कि आत्मा में दुःख मन के कारण ही आरोपित हो रहा है, स्वरूप से वह आनंदमात्र है। यद्यपि सुषुप्ति से भी यह पता चलता है तथापि समाधि का उपयोग है। सुषुप्ति में एक तो मन बीजरूप से बचा रहता है और दूसरा, वहाँ वृत्ति तामसी रहती है। समाधि सात्त्विक दशा है और क्योंकि विवेक, शम, दम आदि के अभ्यास के परिपाक पर ही होती है, इसलिये वहाँ मन नाशोन्मुख रहता है। नष्ट तो वह तत्त्वनिष्ठा से ही होगा, पर समाधि में वह उधर ही उन्मुख हो जाता है, प्ररोह की तरफ उन्मुख नहीं रहता। अतः तब आत्मानंद अत्यंत स्पष्ट होता है। सुषुप्ति-समाधि की प्राप्ति सभी चाहते हैं। सुषुप्ति तो यदि कुछ दिन न आये तो व्यक्ति पागल हो सकता है।

वह सबकी कामना का विषय है जबकि वहाँ कोई वैषयिक उपलब्धि होती नहीं, इससे सिद्ध होता है कि वहाँ आत्मा ही आनंद है।

प्रश्न होगा कि यदि आत्मा पूर्ण आनंद है तो सबकी संसार की ओर प्रवृत्ति क्यों ? उत्तर है कि आत्मा के आनंद का संसार पर आरोप कर दिया है, इसी भ्रमवश उधर प्रवृत्ति हो रही है। जंगल में बंदरों को देखोः लोग अग्नि जलाकर तापते हैं। गुञ्जा का फूल लाल रंग का होता है, उसमें बंदरों को अग्नि की भ्रान्ति हो जाती है। बंदर बहुत से फूलों को इकट्ठा करके उनके ऊपर हाथ रखकर तापते हैं ! सब इकट्ठे बैठते हैं, अतः ठंड कम लगती है। रातभर अपने शरीर की गर्मी रहती है; किन्तु बंदरों को अग्नि की भ्रान्ति प्रतिभासित होती है। इसी प्रकार प्राणी विषयों को एकत्रित करके तापता है। अपने आत्मा से सुख की प्रतीति होती है। वस्तुतः संसार में सुख नहीं, अपनी आत्मा का ही सुख प्रतिभासित होता है, परन्तु भ्रम से हम मानते हैं कि संसार के विषयों ने सुख दिया और इसी से पुनः-पुनः उधर प्रवृत्त हो रहे हैं। वास्तविकता यही है कि विषयाकर्षणरूप अशांति से ही सारा दुःख है। शांत अवस्था में नियमतः आनंद है और अशांतावस्था में कभी आनंद नहीं है। अतः विषयों से हटकर आत्मा में, मुख्य आत्मा में एकाग्र होना रूप समाधि का अभ्यास करना चाहिये तभी उस व्यापक आनंदरूप पूर्ण तत्त्व का साक्षात्कार संभव है।

एक लड़के ने ऊँटों का काफ़िला देखा जिन पर रुई लदी थी। बेचारा सोचने लगा 'इतनी रुई कौन धुनेगा ? कौन कातेगा, कौन बुनेगा ?' इसी सोच में वह पागल हो गया ! कोई दवा उस पर काम नहीं की। अंत में एक महात्मा ने उपाय किया, उसे समझाया 'अरे ! वह जो काफ़िले पर रुई गयी थी उसमें आग लग गयी, सारी जल गयी।' यह सुनते ही वह प्रसन्न हो गया, बोला 'चलो टण्टा मुका'; शांत हो गया। इसी प्रकार हम परेशान हैं कि 'संसार

का बोझ कौन ढोयेगा ? हम नहीं करेंगे तो कौन करेगा !' जब सद्गुरु बताते हैं कि संसार तो रहा ही नहीं, 'नेति नेति' की ज्वाला में जल गया, तभी हम शांत होते हैं, अन्यथा हमारी शांति का कोई उपाय नहीं है। संसार में आनंद ढूँढे नहीं मिलेगा। आनंद केवल आत्मा का स्वरूप है। गौण-मिथ्या आत्माओं की परीक्षा कर उनमें से मुख्य आत्मा को पृथक् कर उसी में स्थिर रहें तभी शोक से तर सकते हैं।

आत्मा के सामान्य व विशेष रूप

आत्मज्ञान से शोकनिवृत्ति होती है पर आत्मा का तो सभी को सदा ज्ञान है ही, फिर शोक कैसे है ? आत्मा के दो रूप हैं—सामान्य और विशेष। सभी को आत्मा का सामान्य रूप तो पता है पर विशेष रूप पता नहीं है। जब विशेष न जानकर सामान्य का ज्ञान होता है तभी भ्रम होता है; जैसे 'रस्सी' इस विशेष को जाने बिना 'कुछ लंबा है' इस सामान्य को जानने पर वहाँ साँप का भ्रम होता है। आत्मा की भी पूर्णता, आनंदरूपता को बिना जाने हमें उसके बारे में भ्रम हो गया है अतः 'है'-रूप से, 'ज्ञान'-रूप से जानते हुए भी हम उसे पहचानते नहीं। संसार में जहाँ भी सत्ता, ज्ञान, सुख है, वहाँ ब्रह्म के ही वे रूप हैं पर हमें लगता है कि वे विषयों के हैं। मिठास चीनी की ही होती है पर लगता है लड्डू मीठा है, पेड़ा मीठा है ! एक परमात्मा ही अपनी पूर्णता में ईश्वर कहलाता है और शरीर में सीमित दीखता हुआ वही जीव कहलाता है। अतः सर्वत्र है एक ही पूर्ण तत्त्व। यों उसकी अखण्डता, व्यापकता समझने पर ही उसके बारे में भ्रम मिटकर शोकनिवृत्ति होगी, केवल उसके सामान्यरूप के ज्ञान से यह फल नहीं होता।

ऐसा नहीं कि सामान्य-विशेष रूप या सच्चिदानन्दादि आत्मा 'में' वैसे रहते हों जैसे फूल में रंग, सुगंध आदि ! उसमें तो ये सब

वैसे रहते हैं जैसे चीनी में मिठास अर्थात् उसके स्वरूप से कुछ भी भेद इनमें नहीं है। उन्हें पृथक् कर तो इसलिये कहते हैं कि आत्मा के बारे में भ्रम अनेक हैं, उन्हें हटाने के लिये जिन ज्ञानों की ज़रूरत पड़ती है उनसे जो स्वरूप अनावृत होता है वह दूसरे ज्ञानों से अनावृत नहीं होता, अतः अनावृत करने वालों के भेद के कारण अनावृत होने वालों में भी भेद का व्यवहार हो जाता है। यदि फूल-रंग की तरह इन विशेषताओं को आत्मा में मानें तो आत्मा विनाशी, विकारी, अनित्य, जड आदि सिद्ध होगा। किं च आत्मा से स्वतंत्र सत्य-ज्ञान-आनंद-अनंत की कभी कहीं उपलब्धि न होने से उन्हें आत्मा से किंचिद् भी भिन्न नहीं मान सकते। सत्यादि से अतिरिक्त जो जगज्जन्मादिकारणता, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि आत्म-धर्म हैं वे औपाधिक हैं, माया या मन के रहते ही ईश्वर या जीव में ये मिलते हैं, बिना उपाधि के नहीं मिलते; किन्तु सत्यादि तो उपाधि के बिना भी मिलते ही हैं। वे जो निरुपाधिक स्वरूप हैं, उन का साक्षात्कार होने से ही शोकनिवृत्ति होती है।

एक जिज्ञासा होती है कि यदि आत्मा ऐसा ही है तो हम यह समझकर भी क्यों उधर ही नहीं जाते, संसार क्यों हमें आकर्षित करता है ? समाधान यह है कि हमें शास्त्र और सदुपदेश से आत्म-स्वरूप का अभी परोक्ष ज्ञान ही है इसलिये वह हमें संसार से सर्वथा विमुख नहीं कर पाता। चोर को पता हो कि यहाँ धन है—यह एक बात है और उसे सामने खुली पड़ी तिजोरी दीख रही हो—यह बात ही और है ! सिर्फ पता है तो वह चोरी में उतावली नहीं करेगा, अन्यत्र भी पता करता रहेगा, जहाँ सुविधा से तथा ज़्यादा माल मिलना संभव होगा वहाँ सेंध मारेगा। लेकिन आँखों के सामने होगा तो तुरन्त चोरी की कोशिश करेगा ही। ऐसे ही हमें केवल पता है, अभी हमने वह शांति का आनंद महसूस नहीं किया है, इसीलिये हम उसे पाने के प्रयास टाल देते हैं। पुराने संस्कार कहते हैं कि 'संसार में सुख है' तो उधर ही लग जाते हैं, क्योंकि

अभ्यस्त होने से वह सरल भी लगता है। जैसे ग़लत हिज्जे याद हो चुके हों तो सही हिज्जे पता होने पर भी पहले ग़लत ही लिखने में आ जाते हैं, धीरे-धीरे अभ्यास से सही की आदत पड़ती है, ऐसे ही संसार की अनित्य-अशुचि-दुःखरूपता के संस्कारों को दृढ किये बिना आत्मा की तरफ प्रगति नहीं होगी। साधक पहले इसके लिये प्रयत्न करे, बिना प्रयत्न किये इस महान् फल की प्राप्ति नहीं होगी। पूर्ण प्रयत्न किया तो यहीं, जीवित रहते ही इसकी प्राप्ति हो जायेगी। जैसे दुःख यहीं अपरोक्ष है ऐसे ही इसकी निवृत्ति और परमसुख की प्राप्ति भी यहीं अपरोक्ष होगी, तभी उसे 'फल' कहते हैं; दुःख यहाँ हो और मिटे कहीं लोकांतर में, तो वस्तुतः उसे फल कहना बनता नहीं। जहाँ दुःख है वहीं मिटे, तभी फल माना जा सकता है। अतः भूम तत्त्व का *साक्षात्कार* ही सफल है क्योंकि यही शोक से तार देता है।

लोग कई बार अपनी अप्रवृत्ति को 'काल' के सिर टालने की कोशिश करते हैं कि—काल बलवान् है, जैसा काल होगा वैसी चेष्टा करा लेगा। किन्तु विचार करो, काल है क्या ? जैसे घड़ी में चाबी न हो तो वह बंद हो जाती है ऐसे परमेश्वर का अज्ञान न रह जाये तब काल भी समाप्त हो जाता है, अज्ञान ही उसकी 'चाबी' है। जैसे घड़ी के सब पुर्जे ढके रहते हैं ऐसे काल की प्रक्रिया हमें समझ नहीं आती। केवल सुइयों को देखकर काल का अनुमान होता है या सूर्यादि के परिवर्तनों को देखकर मानते हैं कि ज़रूर काल बीता है; ऐसे ही कामनाओं के अनुभव से हम काल की कल्पना करते हैं कि ऐसी कामना हुई तो ज़रूर काल ने इसे पैदा किया ! किन्तु काल कोई स्थित वस्तु नहीं है, अपनी-अपनी दृष्टि से है। सिनेमा देखने वाले के लिये चोरी पहले हुई, चोर पकड़ा बाद में जायेगा—यों भूत-भावी काल हैं किन्तु सिनेमा के निर्देशक की दृष्टि में वहाँ कोई कालभेद नहीं है, सभी घटनाएँ एक ही वर्तमान में हैं। इसी तरह परमेश्वर की दृष्टि में अविद्या न होने से उसके

लिये काल का कोई अर्थ नहीं है। तुम अविद्या में हो, इसी से काल के अंदर सोचते-समझते हो। अतः काल पर टालने से कोई फायदा नहीं क्योंकि काल तो है ही तुम्हारी दृष्टि में ! वह कोई स्वतन्त्र पदार्थ तो है नहीं जो तुम पर शासन करता हो। इसलिये स्वयं की सामर्थ्य का उपयोग कर संसार की वास्तविकता की तरफ़ ध्यान दो, उसके दोष समझो तभी उसे छोड़ने की प्रवृत्ति और परमात्मा को समझने की प्रवृत्ति कर पाओगे। इस ओर प्रमाद करने से अपनी ही हानि होगी क्योंकि 'प्रमादो वै मृत्युः' प्रमाद ही मृत्यु है। निरंतर विवेकपूर्वक आत्मलाभ के प्रयत्न में लगे रहना चाहिये, तभी संसार सागर पार कर सकोगे।

साधना में धैर्य

शोक, भय से निवृत्ति का एकमात्र उपाय पूर्णस्वरूप आनंदरूप आत्मा का नित्य साक्षात्कार ही है। 'परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है' यह दृष्टि बन जाने पर क्योंकि परमेश्वर से भिन्न कुछ नहीं रहता इसलिये भय, राग, द्वेष, घृणा आदि किसी को स्थान नहीं। जैसे लहर देखकर नहीं लगता कि समुद्र की कोई हानि हो गयी, ऐसी ही सर्वत्र—जड-चेतन सारे जगत् में—एक परमेश्वर देखने वाले के लिये संसार की किसी फेर-बदल में कोई हानि-लाभ नहीं है, तभी शोक की समग्र निवृत्ति होती है। यह नहीं सोचना चाहिये कि इतने शुभ-अशुभ भेदों वाले संसार के रहते क्या यह दृष्टि संभव है ? शास्त्र बता रहा है, आचार्यों ने पायी है तो तुम्हारे लिये भी संभव है ही। केवल शंका-संभावना उठाते रहे, कोशिश कुछ नहीं की तो कुछ हासिल नहीं होने वाला है। न तो विघ्न-भय से कार्यारंभ रोकना चाहिये और न विघ्न आने पर प्रयास छोड़ने चाहिये। उत्तम मनुष्यता यही है कि विघ्नों का सामना करके अपने लक्ष्य तक पहुँचने की कोशिश न छोड़ी जाये। साधनों में कोई-न-कोई त्रुटि

दिखायी ही जा सकती है पर साध्य को सिद्ध कर दे तो साधन समीचीन मानना पड़ता है। घर बनाते हो रहने के लिये, यदि उसमें रह सकते हो तो घर सफल है। यदि एक सुझाव पुस्तक रखकर शहर-भर को अपना घर दिखा कर उसमें अपने सुझाव लिखने को कहो तो घर की एक ईंट भी ऐसी नहीं होगी जिसे किसी-न-किसी ने बदलने को न कहा हो ! भगवान् ने इसीलिये साफ़ किया कि सभी 'आरंभ' दोष से घिरे ही रहते हैं। दोष दूर करने के असंभव प्रयास में मत लगो वरन् अपना गन्तव्य निश्चित कर उपलब्ध साधनों का प्रयोग करने में लगो। अगर सोचा कि सर्वथा निर्दुष्ट घर में ही रहोगे, तो बेघर ही रह जाओगे! ऐसे ही साधना के दोषों पर दृष्टि डालते रहे तो कोई साधन नहीं अपना पाओगे, कुछ सिद्ध नहीं होगा। अतः शास्त्र व सद्गुरु द्वारा बताये साधनों के अनुष्ठान में तत्पर होना ही बुद्धिमानी है।

अध्यात्म-साधना के मार्ग पर चढ़ोगे तो बार-बार काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य आदि की ठोकरें लगेंगी ही, पुनः-पुनः गिरोगे ही, लेकिन हौसला रखकर चलते रहे तो पहुँच भी अवश्य जाओगे। एक प्रसिद्ध कथा है : एक बादशाह लड़ाई में हारकर भागा और हताश होकर किसी गुफा में छिपकर बैठ गया। सोच रहा था कि आगे राज्यप्राप्ति के लिये कोशिश न करूँ। तभी उसने देखा कि एक चींटा गुफा की दीवार पर चढ़ने की कोशिश करता है, फिसल जाता है, फिर चढ़ने लगता है तो पुनः फिसलता है पर बार- बार गिरकर भी चढ़ने का प्रयास छोड़ता नहीं और आखिर में चढ़ ही जाता है। यह देख बादशाह को हौसला आया कि कोशिश करते रहना चाहिये, सफलता होगी ही। इसी प्रकार साधक को विघ्नों से डरे बिना साधना में लगे रहना चाहिये, तभी सिद्धि मिलेगी।

साधक-जीवन में विचार की आवश्यकता है। समय रहते ही मनुष्य को चेतना चाहिये और युवावस्था से ही परमात्मा की प्राप्ति

के लिये यत्न करना चाहिये। जल में रहने वाली मछली के चारों ओर पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं, केवल पानी ही होता है। इसी प्रकार परमेश्वर में लगे हुये मनुष्य को चारों ओर परमेश्वर ही दृष्टिगोचर होता है। मछली का पानी से अन्यत्र एक क्षण भी जीवन नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर से लगा हुआ पुरुष बिना परमेश्वर के एक क्षण नहीं रह सकता, तभी शान्ति को प्राप्त होता है। उसे विषयभोगों से, संसार से अरुचि हो जाती है। परमेश्वर के चरणारविन्द में ही प्रेम के अतिरिक्त और किसी की आकांक्षा नहीं होती। उसे कभी भय नहीं होता। वह अपने से भिन्न कुछ नहीं देखता, एवं सारे बंधनों से छूट जाता है। भक्तवर प्रह्लाद को ऐसी ही सर्वत्र भगवद्-दृष्टि प्राप्त हुई थी। हिरण्यकशिपु जब तपश्चर्या में रत था तब देवताओं ने असुरों को हराया था, तभी उसकी गर्भवती पत्नी कयाधू नारद जी के संरक्षण में रही थी, जहाँ देवर्षि ने जो सत्संग दिया उसके संस्कार गर्भस्थ प्रह्लाद में स्थिर हो गये। बाल्यकाल में उन्हें बहुत प्रयास से संसारोन्मुख शिक्षा दी गयी किन्तु गर्भ में पड़े संस्कार ही प्रबल रहे और वे सर्वत्र भगवान् ही देखने लगे। पिता ने न जाने क्या-क्या कष्ट उन्हें दिये कि वे नारायण को भूलें किन्तु दैत्यों के सारे प्रयासों के बावजूद प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ, न उन्हें कोई भय लगा, न दुःख हुआ। सर्वत्र विष्णु देखने से उन्हें दैत्यों पर भी कोई आक्रोश नहीं आया वरन् दया का ही भाव बना। आज क-ख-ग से कृष्ण-खगेश-गणेश न पढ़ा कर कबूतर-खरगोश-गधा पढ़ाने वाला धर्मनिरपेक्ष राज्य बाल्यकालिक संस्कारों का महत्त्व आँक नहीं रहा है। अपने संस्कार भगवन्मय बनाना शान्तिप्राप्ति के लिये अनिवार्य है। सर्वत्र परमेश्वर दृष्टि से अपने इष्ट को ही देखता है, तो शत्रु-मित्र-भाव गल जाता है। केवल वाणी से कहना पर्याप्त नहीं, जब हृदय के गहनतम स्तर पर यह अनुभव हो तभी ज्ञान का फल होता है। जो आत्मज्ञानी है उसे स्वभावतः परमेश्वर दिखाई देता है किन्तु साधक प्रयत्न द्वारा

सर्वत्र परमेश्वरदृष्टि करे, शत्रु-मित्र में व्यापक परमात्मा के दर्शन करे। अच्छी और बुरी परिस्थिति में भी सर्वत्र परमेश्वर के दर्शन का ही प्रयास करे। सिद्ध के स्वभाव को यत्नपूर्वक जीवन में लाना साधना है। कोशिश करके ब्रह्मदर्शन होते-होते ही बिना कोशिश के ब्रह्मदर्शन भी हो जायेगा। तभी सब परिच्छेदों से मुक्ति मिलकर शोक से तरण स्वतः सिद्ध होगा।

आवश्यक उपाय

शोक समुद्र से पार जाने के लिये शास्त्रज्ञान पर्याप्त नहीं, आत्मज्ञान आवश्यक है। शोक से उपलक्षित संसार केवल तत्त्वज्ञान से समूल समाप्त होता है। आत्मा का ज्ञान सर्वसुलभ है पर उसकी व्यापकता अज्ञात है, व्यापक आत्मा के, भूम तत्त्व के ज्ञान से शोक व भय की निवृत्ति एवं आनंदप्राप्ति होती है। इस ज्ञान के लिये साधनाभ्यास बताते हुए श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में बीस धर्म बताये हैं, जिन्हें जीवन में लाये तो साधक तत्त्वबोध का अधिकारी अवश्य बन जाता है। वे धर्म हैं—(१) अमानिता, (२) अदंभिता, (३) अहिंसा, (४) क्षांति अर्थात् क्षमा, (५) आर्जव अर्थात् अकुटिलता, (६) आचार्य की उपासना, (७) शौच (सफाई), (८) स्थिरता, (९) अपने पर नियंत्रण, (१०) ऐंद्रिय विषयों से वैराग्य, (११) अनहंकार, (१२) संसार में इन दोषों का अनुदर्शन करना—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, (१३) आसक्ति न रखना, (१४) पुत्र, पत्नी, घर आदि में अभिष्वंग (घोर ममत्व) न करना, (१५) इष्ट-अनिष्ट परिस्थितियों में हमेशा समचित्त रहना, (१६) अनन्ययोग से भगवान् में अव्यभिचारी भक्ति रखना, (१७) विविक्त स्थान का सेवन करना, (१८) जनसंसद् में रति न करना, (१९) अध्यात्मज्ञान में ही लगे रहना, (२०) तत्त्वज्ञान-साध्य मोक्ष की ही परम महत्ता का विचार करना। इनसे भिन्न सारा अज्ञान है। जो

इन बीस धर्मों को प्राप्त कर ले, उसे ही आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। जिसने प्रथम इन समस्त गुणों को प्राप्त कर लिया है उसे केवल चिन्तन ही पर्याप्त है अन्यथा बीसों गुणों का संग्रह आवश्यक है।

अमानिता

प्रथम गुण अमानित्व है। अध्यात्म-साधना में एक नियम याद रखना कि अपने दोष छिपाने की कभी प्रवृत्ति न करना। दोषों को प्रकट दुश्मन रखकर दूर कर सकते हो, उन्हें छिपाने लगे तो वे ही बढ़ते जायेंगे, तुम्हारा नुकसान ही होता जायेगा। लगभग सभी सम्मान चाहते हैं। चाहे जितना 'ना, ना' करें, सम्मान मिलने पर मुँह पर जो चमक आती है और अपमानित होने पर जो मुर्झान आती है वही बता देती है कि सम्मान कितना प्रिय है। अमानिता होने पर मान-अपमान से कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। बार-बार ध्यान रखो कि 'सम्मानाच्च तपोहानिः' सम्मान मिलने से अपना तप खर्च हो जाता है अतः कोई सम्मान दे तो वास्तव में हमारी हानि करता है क्योंकि हमारा तप व्यय कर देता है। इसलिये अपमान होना ही बेहतर है। 'सब मेरी प्रशंसा करें' यह इच्छा ही मान कही जाती है। किन्तु स्वयं भगवान् जब राम, कृष्ण बनकर अवतरित हुए तब उनके समय से आज तक बहुतेरे लोग उन पर दोषारोपण ही करते हैं ! जब उन्हें सब सम्मानित नहीं करते तो हम सबसे सम्मान चाहकर मूर्ख ही बन रहे हैं। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से परीक्षित की रक्षा भगवान् ने तब की थी जब वह गर्भ में था और फिर जन्म के बाद भी भगवान् ने ही उसे जीवनदान दिया, वही परीक्षित मरते समय गोपीप्रसङ्ग में भगवान् कृष्ण के प्रति शंका करने लगा। परीक्षित भी बिना भगवान् को दोष दिये नहीं रहा तो हमें सम्मान प्राप्त हो जाये—यह तीन काल में हो नहीं सकता। फिर सम्मान की

कल्पना करना व्यर्थ एवं संकटपूर्ण है। लोगों को जीवन में एक क्षण भी चैन नहीं है, प्रतिक्षण बदनामी का डर लगा रहता है अतः बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अतः सच्चा साधक सदैव सम्मान से बचे। सदैव अमानित्व की भावना रखे। जिस क्षण यह भाव आ गया "मैं कुछ हूँ" उसी क्षण उसका पतन निश्चित है। इसी कारण गुणी लोग सदैव मान से बचने का प्रयत्न करते हैं। मान को भँवर जानो; तैराक भी भँवर से दूर ही रहता है। अपनी साधना के भरोसे सम्मान के भँवर से बच जाओगे इस आशा में नहीं रहना चाहिये। इज़्ज़त, स्तुति, प्रशंसा—सब क्षणिक सुख देती हैं पर जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट ही देती हैं। जो आज पूजेंगे वे ही कल पत्थर मारने से नहीं चूकेंगे। गाँधी जी, नेहरू जी का जीवन अपने सामने ही है; कुछ ही समय पूर्व तक उनकी प्रशंसा ही होती रही। अब लोग बुराई करते हैं। जो तब प्रशंसक थे, वे आज निंदक बन गये, पहले के निंदक आज प्रशंसा कर रहे हैं। ऐसे ही संसार में सर्वत्र देख सकते हो, बड़े-बड़ों का यश धूमिल होते-होते मिट ही जाता है।

प्राचीन काल में इन्द्रद्युम्न नाम के एक राजा थे; उन्होंने अट्ठानबे अश्वमेध यज्ञ पूर्ण कर लिये। वे इन्द्र तो नहीं बन सके; किन्तु इन्द्र के समीप ही स्थान प्राप्त कर लिया। दिव्य नब्बे वर्ष व्यतीत हो गये। मनुष्य के तीन सौ साठ वर्ष एक दिव्य वर्ष के बराबर होते हैं। इन्द्र ने इन्द्रद्युम्न से कहा कि 'अब तुम्हें स्वर्ग से जाना पड़ेगा क्योंकि यहाँ पुण्य ही पर्याप्त नहीं अपितु कीर्ति की भी आवश्यकता होती है। यदि कोई तुम्हें पहचानता हो, तो यहाँ रह सकते हो, अन्यथा तुम यहाँ से पृथ्वी पर भेज दिये जावोगे।' इन्द्र उसे उपदेश देना चाहते थे। उनका आशय था जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिलाना।

इन्द्रद्युम्न 'मुझे कौन नहीं जानेगा !' इस ऐंठ के साथ अपने विमान में बैठकर आया, तो भू लोक में सब कुछ बदला हुआ पाया ! किसी को उसका नाम भी नहीं मालूम था। तैंतीस हज़ार वर्ष व्यतीत हो गये थे। उसने बहुत याद दिलाया "मैंने अट्ठानबे अश्वमेध यज्ञ किये"; लोगों ने कहा "मर गया सो मर गया—उसे याद रखने का अब टण्टा क्यों ?" इन्द्रद्युम्न बड़ा दुखी हुआ। उसका विचार था 'मेरी बड़ी ख्याति है'; किन्तु आज उसके नाम का लोप हो गया था। दैव योग से लोमश ऋषि वहाँ आ गये; उन्होंने राजा को नाम लेकर आवाज़ दी। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। लोमश ऋषि ने कहा 'मेरी लम्बी आयु है। मैं तेरे यहाँ अश्वमेध यज्ञ में भोजन करने आया था; यद्यपि उस समय तूने मेरा ध्यान नहीं रखा था; किन्तु मुझे तो तेरा ध्यान है। अच्छा मैं इन्द्र से जाकर कहता हूँ।' तत्पश्चात् इन्द्रद्युम्न को बड़ा वैराग्य हो गया। उसको यह निश्चित रूप से ज्ञात हो गया कि 'मेरी कीर्ति नष्ट हो चुकी है। अतः अब कुछ लाभ नहीं है।' इस प्रकार उसको ज्ञान प्राप्त हो गया और उसका अहंकारजनित मोह नष्ट हो गया।

अतः साधक को सचेष्ट रहने कि आवश्यकता है। उसे अपनी रक्षा का सदैव ख्याल रखना चाहिये और सदैव अमानित्व की भावना रखने की आवश्यकता है। संसार से परे जाना चाहे और साथ ही संसार में डुबकी भी लगाना चाहे—तब वह साधना नहीं कर सकता। शास्त्र-आचार्य के उपदेशानुसार ही चले, फिर चाहे जितना अपमान, तिरस्कार मिले—जो कि मिलना ही है क्योंकि सांसारिक लोग साधना को तिरस्कार के लायक ही मानते हैं—उसे सहन करे, उसे कीमत न दे, तभी साधनामार्ग पर आगे बढ़ेगा। अमानित्व में अपमान से भी हानि नहीं। यदि लोग हमें कुछ अच्छा समझेंगे, तो हमारा पतन निश्चित है और यदि उन्होंने बुरा समझा तो हम बलात् एकांत में रहेंगे, अतः किसी प्रकार का विघ्न न होगा। वायु और आकाश कभी विक्षेप करने वाले नहीं ! अमानी साधक किसी ओर नहीं देखता। अमानित्व एक बड़ी चीज़ है।

अमानित्व की भावना रखने में सहायक यह विचार है कि

प्रारब्धवश ही सारी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। ज्ञान-साधना की प्रथम चीज़—अपने 'अहम्' को मिटा देना है। जब तक 'खुदी' विद्यमान है, तब तक 'खुदा' नहीं मिलता। और जो अपनी खुदी को मिटा देता है वही शोक तरता है। मान में सदैव यह भावना रहती है कि 'मैं कुछ हूँ' अतः आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिये अमानित्व नितान्त आवश्यक है।

अदम्भ

ज्ञान साधना का दूसरा धर्म है अदंभिता—दंभ का न होना अदंभ है। झंडे की तरह धर्म का प्रदर्शन जिससे सबको पता लग जाय कि मैं बड़ा धार्मिक हूँ—यह दंभ कहलाता है और इसका अभाव अदंभिता कहलाता है। दंभ की भावना आने पर *धर्म के त्याग* की भावना नहीं होनी चाहिये ! बदनामी के डर से चोरी करना अच्छा हो—ऐसा नहीं है। दंभ आने पर धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये वरन् दंभ को रोकना चाहिये। 'बहुत मसाले वाला साग मत खाओ', इसका अर्थ यह नहीं कि साग खाना छोड़ दो। अदंभित्व वाला अपने धर्म को छिपाना चाहता है। जिस प्रकार लोभी प्राणों से प्रिय धन को छिपाकर रखता है, बुरी गाय स्तन में आये हुये दूध को रोक लेती है, इसी प्रकार अदंभी अपने धर्म को छिपाता है।

'दिखाऊ धर्म' से हमेशा बचना चाहिये। अपने दान, जप, अनुष्ठान आदि का प्रदर्शन हो, तन्निमित्तक ख्याति हो, ऐसा व्यवहार अदंभी नहीं करेगा। जैसे नगरसेठ जंगल में कभी अपने वैभव को नहीं बतलायेगा वैसे यह धर्मरूप खज़ाना सबके सामने प्रकट करने का नहीं। कई लोग 'छिपाने' का ऐसा ढंग बनाते हैं कि और प्रकट हो जाये ! यह बनावटी अदंभ भी साधक के काम का नहीं। विचारपूर्वक दंभभाव का निरोध करना चाहिये। नियम है

कि अपने पुण्य कर्मों की ख्याति से पुण्य कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः अच्छे दानी गुप्त दान करते हैं। भाषाके कवियों ने भी कहा है

''नारायण दो बात को दीजै सदा विसार।
करी बुराई और ने, आप कियो उपकार।।''

लोग ठीक इसके विपरीत करते हैं ! दूसरे के उपकार को भूल जाते हैं और अपने उपकार का प्रलाप करते हैं। उपनिषदों में जानश्रुति की कथा प्रसिद्ध है। बहुत धर्म-कर्म करने वाला अत्यन्त यशस्वी राजा था पर कर्मकाण्ड में ही अटका था अतः उसे आगे बढ़ाने की इच्छा से ऋषियों ने लीला की : हंसों के रूप में जानश्रुति के महल पर से उड़े। नीचे जानश्रुति लेटा था। वह सुने, इस ढंग से हंस रूपधारी ऋषियों में से एक ने कहा 'जानश्रुति बहुत तेजस्वी है, उसे लाँघो मत।' दूसरे हंस ने जवाब दिया 'अरे ! तुम तो ऐसे बोल रहे हो जैसे यह गाड़ी वाला रैक्व हो ! यह केवल राजा ही है, इसे मैं लाँघूँ तो मेरा क्या हर्ज है !' यह सुनकर जानश्रुति के अभिमान को ठेस लगी। उसने दूतों द्वारा रैक्व की खोज कराई। जहाँ बड़े विद्वान् आदि थे वहाँ सर्वत्र ढूँढने पर भी रैक्व का पता नहीं लगा। साधारण ब्राह्मणों के लायक स्थानों पर खोजना प्रारंभ किया तो एक छकड़े के नीचे रैक्व मिल गये। यद्यपि उन्हें देखने पर कोई वैशिष्ट्य नहीं दीखता था तथापि पूछा तो उन्होंने रैक्व होना स्वीकारा। जानश्रुति उनकी सेवा में गया और उनसे 'संवर्ग विद्या' का उपदेश लिया। विचार करो : जानश्रुति धार्मिक तो था पर उसमें दंभ था, इसीलिये उसे हेठी महसूस हुई कि 'मेरे धर्माचरण को हंस ने निकृष्ट कैसे कहा।' दूसरी तरफ़ रैक्व में विद्या थी, अतः कोई प्रदर्शन नहीं था, अदंभ था। केवल कर्मी दंभ से बचे यह मुश्किल है। विद्या से ही यह संभव होता है कि अदंभ का महत्त्व समझकर साधक दंभ का परित्याग करे।

धर्म बेचने की चीज़ नहीं, इसका विज्ञापन नहीं करना चाहिये।

अपने धर्म को समझने वाले उसे प्रकट नहीं करते—अत्यंत दीन-हीन प्रतीत होते हैं; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग भी करते हैं। यह भी उपनिषदों में यज्ञावल्क्य के दृष्टांत से समझाया: 'सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता ये गायें ले जाये' यह जनक ने घोषणा की। बड़े-बड़े ज्ञानी ऋषि वहाँ थे पर किसी ने आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं की। याज्ञवल्क्य ने सोचा कि यों तो प्रतीत होगा कि यहाँ कोई ब्रह्मवेत्ता है ही नहीं! इससे विद्या की अपकीर्ति होगी कि 'केवल बातें हैं, कोई विद्वान् हुआ नहीं करता।' अतः उन्होंने अपने शिष्य से कहा 'गायें ले चल!' तब अन्यों ने पूछा 'क्या तू ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ है ?' याज्ञवल्क्य ने कहा 'ब्रह्मज्ञों को तो हम नमस्कार करते हैं ! गायों की ज़रूरत थी, अतः ले जा रहे हैं।' फिर सभी ने विविध ब्रह्मविषयक प्रश्न किये और याज्ञवल्क्य ने सबका समीचीन उत्तर दिया। केले की डाली हल्की और पोली होती है; किन्तु उसका फल रसदार होता है। नीम की डाली बाहर से अच्छी और ठोस प्रतीत होती है; किन्तु अंदर से उसमें कड़ुआहट होती है।

दंभी बृहस्पति की तरह आध्यात्मिक वार्तालाप करके अपने पांडित्य का प्रदर्शन करता है। अज्ञानतावश उसकी क्रियायें इसी प्रकार चलती हैं; किन्तु दंभ प्रकट हो जाने पर वह मुर्झा जाता है।

कालिकाचरण नामक एक देवी-उपासक था। किसी राजा के लिये अनुष्ठान कर उसने राजा को पुत्रलाभ कराया, तब से राजा उसे बहुत मान-सम्मान देता था अतः सभी लोग उसे अत्यंत प्रश्रय देते थे। एक काली-मन्दिर बनवाकर वह वहीं पूजा करते हुए रहने लगा। उपासक होने पर भी सांसारिक वातावरण प्रधान होता गया तो वह भी धन की ओर दृष्टि वाला बन गया, पूजा आदि धन के उद्देश्य से करने लगा। एक बार एक परमहंस उधर आये। वे भी मंदिर दर्शन करने पहुँचे। मंदिर के सामने गंगा जी बहती थीं। भगवती का दर्शन कर महात्मा गंगा का दर्शन करते हुए बैठ गये। कालिकाचरण की दृष्टि पड़ी तो वह महात्मा का गंगा के प्रति मनोभाव समझ नहीं सका, डाँटने लगा 'अरे ! भगवती की तरफ पीठ करके बैठा है !' महात्मा ने उसकी ओर देखा, देखते ही उसकी अवस्था समझ गये, बोले, 'मुझे क्या टोकता है, तू जिसका ध्यान करता है वह तो तेरे चरणों के नीचे है !' कालिकाचरण अत्यंत क्रुद्ध हो गया। राजा से कहकर महात्मा की भगवती के सामने बलि चढ़वा दी कि इसके अपराध का यही दण्ड है। कुछ दिनों बाद उसी परमहंस का एक शिष्य उधर आया। उसने सारा किस्सा सुना, बड़ा दुःखी हुआ। वह भी वैसे ही जाकर बैठा तो कालिकाचरण ने पुनः उसी प्रकार उसके वध का निर्णय किया। जब राजा आदि सब एकत्र हो गये, बलि होने वाली थी तब भगवती का विग्रह लुप्त हो गया ! राजा घबराया। कालिकाचरण भी घबरा तो गया पर घबराहट ढाँकते हुए बोला 'देवी घूमने गयी हैं।' किन्तु जगदम्बा ने आकाशवाणी से घोषणा कर दी 'राजन् ! तेरे राज्य में अत्याचार हो रहा है, अब मैं यहाँ नहीं रह सकती।' राजा भी सचेत हो गया। महात्मा की बात याद कर कालिकाचरण जहाँ बैठता था वहाँ खुदवाया तो गड़ा धन मिला ! इसी के लिये वह उपासना-पूजा का इतना प्रदर्शन करता था कि अधिकाधिक धन एकत्र करे ! राजा ने उसे देशनिकाला दे दिया और भगवती से प्रार्थना कर उन्हें पुनः स्थापित किया।

अतः दंभ व्यक्ति को सर्वथा मार्गभ्रष्ट कर देता है। पहले धर्म का प्रदर्शन होता है फिर प्रदर्शन ही रह जाता है, धर्म सर्वथा छूट जाता है। इसलिये दंभ से हमेशा बचना चाहिये। प्रारंभ में थोड़ा-बहुत दंभ प्रत्येक साधक में रहता है लेकिन सावधानीपूर्वक उसे हटाना चाहिये, थोड़ा भी बढ़ने नहीं देना चाहिये। 'मैं धार्मिक हूँ' की जगह 'परमेश्वर ही सब करा रहे हैं, मेरी सामर्थ्य नहीं' इस भावना को दृढ करते जाने से धीरे-धीरे दंभ दूर होता है।

अहिंसा

ज्ञानप्राप्ति का तृतीय साधन अहिंसा है। अहिंसा भी आत्म तत्त्व का गुण है। जीवन में अहिंसा की भावना जितनी उतरती जाती है उतना ही मनुष्य ज्ञानी होता जाता है। वास्तव में अहिंसा का रूप समझना बड़ा कठिन है। आजकल जितना अहिंसा का प्रचार हो रहा है, उतनी ही अहिंसा के अर्थ के समझने में बड़ी भ्रान्ति हो रही है। शान्ति और अहिंसा आज के युग का नारा है।

अहिंसा का स्वरूप न समझने पर उसका पालन भी ग़लत हो जाता है अतः साधक पहले उसे समझे। मन-वाणी-बाह्य चेष्टा, किसी के भी द्वारा प्राणियों को पीडा न पहुँचाना अहिंसा है। लोग अंडे मांस खाते हैं, बातें अहिंसा की करते हैं ! सोचते हैं कि केवल मनुष्यहत्या हिंसा है। व्यापक परिधि में पीडा-निवारण के लिये सीमित क्षेत्र को पीडा देना भी व्यावहारिक स्तर पर अहिंसा हो सकता है जैसे शरीर का अंग सड़ जाने पर उसे काट देना या सज्जनों पर अत्याचार करने वालों को मार देना। सीमित के हित में व्यापक को पीडित करना हिंसा ही मानी जायेगी। हित-अहित परीक्षापूर्वक निर्णीत करने होंगे अन्यथा स्वार्थ को परार्थ के नाम से ढाँक कर हिंसा हो जायेगी जैसे स्वयं खाने के लिये बकरे काटते हैं, बहाना देवी जी को बलि चढ़ाने का लगाते हैं ! कदाचित् स्वयं भी वे भ्रम में होते हैं क्योंकि निश्चय करके प्रवृत्ति नहीं है कि केवल धर्मबुद्धि से प्रेरित हैं या स्वयं के सुख के लिये। इसी प्रकार गरीबों को, अनपढ़ों को लोग ठग लेते हैं और प्रचार अहिंसा का करते हैं! गरीब को और ग़रीब बना कर उसे पीडित किया अतः हिंसा ही है। किसी के रोज़गार के साधनों पर रोक लगाओ तो उसका पूरा परिवार पीडित होता है, अतः वह भी हिंसा है। साक्षात् चोट बिना किये, उपाय से दूसरे को पीडित करना भी उतनी ही दोषावह हिंसा है जितनी साक्षात् हिंसा। हज़ारों को मारने वाले एक आततायी को

ही मार डालना अहिंसा होगी ! केवल 'मारना' देखकर हिंसा भी नहीं समझ सकते, वह अहिंसा भी हो सकती है। और ऐसे को छोड़ देना ही हिंसा हो जायेगी ! अतः शास्त्र स्पष्ट करता है 'अन्यत्र तीर्थेभ्यः'—शास्त्र में विहित स्थल छोड़कर हिंसा न करे। शास्त्रानुमत क्रियाएँ तो वैध होने से दोषावह नहीं। हिंसा दूसरे की ही हो यह ज़रूरी नहीं, स्वयं की भी हो सकती है। भगवान् ने भी 'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्' से आत्महिंसा का प्रसंग बताया है। आत्मा के रूप में परमात्मा मौजूद है, अतः आत्मा को पीडा देना भी हिंसा ही है। कल्याण के लिये किसी को दण्डित करना या स्वयं तप करना हिंसा नहीं भी है जबकि दण्डित बिना किये बिगड़ने देना भी हिंसा ही है ! यों विचारपूर्वक अपने मनोभाव और प्रयोजन, फल को सावधानी से समझकर ही अहिंसा का पालन किया जा सकता है अन्यथा हिंसा ही होती रहेगी।

एक बार कृष्ण, अर्जुन और सात्यकि घूमते हुए जंगल में ठहरे। बाघ के डर से बारी-बारी से जागने का निर्णय किया। सात्यकि छोटा था अतः प्रथम प्रहर सतर्क होकर बैठ गया। एक ब्रह्मराक्षस आया, सात्यकि ने तलवार से युद्ध करना आरम्भ कर दिया। जैसे-जैसे लड़ता जाता था, सात्यकि कमज़ोर एवं ब्रह्मराक्षस तगड़ा तथा बड़ा होता गया। 'यदि इसी प्रकार यह बढ़ता गया तो अवश्य ही यह मार डालेगा' इस प्रकार सात्यकि विचार करने लगा। तब तक तीन घंटे बीत गये। सात्यकि ने अर्जुन को तुरन्त उठाया। उसने अर्जुन को सावधान रहने का संकेत तो दिया किन्तु सारा किस्सा नहीं बताया। ब्रह्मराक्षस फिर आया और अर्जुन को खाने के लिये कहा। अब अर्जुन और ब्रह्मराक्षस में युद्ध होने लगा ! फिर वही दशा हुई। ब्रह्मराक्षस बलवान् होता गया और अर्जुन जितना लड़े उतना कमज़ोर पड़ता गया। प्रहर बीतने पर अर्जुन ने भी अपना पिंड छुड़ाकर कृष्ण को उठाया और स्वयं सो गया। ब्रह्म-राक्षस फिर आया और उसने सात्यकि तथा अर्जुन दोनों को खाने

की इच्छा प्रकट की और भगवान् कृष्ण से कहा "मैं तुम्हें भी खाऊँगा।" भगवान् ने कहा "जैसी तेरी इच्छा।" यह सुनकर वह छोटा होता गया। तब भगवान् ने उसे अपने उत्तरीय में बाँध लिया! प्रातःकाल उठकर सात्यकि तथा अर्जुन ने अपनी-अपनी युद्ध की कहानी सुनाई। कृष्ण से पूछा—"क्या आपके पास ब्रह्मराक्षस नहीं आया?" उन्होंने कहा "हाँ आया था, यह उत्तरीय में है। यह 'हिंसा' थी। तुमने इसके प्रति हिंसा की, अतः यह बढ़ता जाता था, किन्तु मैंने प्रेम और दया से इसे निर्जीव बना दिया।" हिंसा को विजय करने के लिये प्रेम और दया का बर्ताव करने की आवश्यकता है।

यमों की गिनती में अहिंसा प्रथम है। यदि अहिंसा का पूर्ण रूपेण पालन किया जावे, तो यम-नियम स्वतः आ जाते हैं। किन्तु देश, काल एवं परिस्थिति का विचार आवश्यक है। पापी को छोड़ देना हिंसा है, इससे अप्रत्यक्ष रूप में पाप एवं हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। दब कर रह जाना भी हिंसा का ही रूप है ! सबकी रक्षा के लिये दण्ड देना भी अहिंसा कहलाता है।

केवल बुद्धि से समझना ही अहिंसा नहीं, अपितु जीवन में लाना अर्थात् तदनुसार आचरण करना आवश्यक है। आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिये अहिंसा भी एक साधन है। जीवन में जैसे-जैसे अहिंसा की भावना जाग्रत् होगी, उतनी ही शीघ्रता से आत्म-ज्ञान की ओर मनुष्य अग्रसर होगा।

क्षमा

ज्ञानसाधना का अगला धर्म क्षान्ति या क्षमा है। अन्य द्वारा अपने पर किये अपकार के निमित्त 'उसका अपकार होवे' ऐसी भावना आये बिना उसे सहन करना क्षान्ति है। अपने दुःखों के लिये एकमात्र अपने ही पापकर्म कारण हैं, यह निश्चय रहे तभी

क्षमा की जा सकती है। क्षमा में धरती का उदाहरण दिया जाता है; हम इसे हर तरह पीडित करते हैं फिर भी सब सहकर यह हमारा धारण करती है, अन्नादि से उपकार ही करती है। एक राजा अपने बगीचे में बैठा था, अचानक उसे एक पत्थर आकर लगा। अंगरक्षक तुरंत पत्थर मारने वाला खोज लाये—एक बालक था, दीवाल के दूसरी ओर से उसने आम लटकते देखे, राजा तो दीखा नहीं, फल के लालच में उसने पत्थर फैंका था। राजा से पूछा 'इसे क्या दण्ड दें ?' राजा ने कहा 'एक टोकरा भरकर आम दे दो।' सब आश्चर्य में पड़े गये तो राजा बोला 'अगर इसका पत्थर पेड़ पर लगता तो वह इसे एक आम देता। क्या मैं पेड़ से भी गया-बीता हूँ कि मुझे लगा तो मैं इसे दण्ड दूँ ?' यह क्षमा का भाव है।

विवेक से ही क्षमाभाव आ सकता है। जैसे बाज़ार में जो माल तुम्हें पसंद नहीं उसे छोड़कर अगली दुकान देखते हो, खराब माल वाले से तो झगड़ने नहीं लगते, ऐसे ही व्यवहार में जिसका बर्ताव पसंद न आये उसकी उपेक्षा करो; उसके पास माल ही वह है, उसे ही बेचेगा; उससे उलझ कर अपना मन क्यों बिगाड़ते हो ? विचारशील हमेशा अपने लाभ पर दृष्टि रखता है। प्रसिद्ध है कि एक महात्मा गंगास्नान कर जिधर से जाते था, उधर एक मुसलमान रहता था जो उसी समय कुल्ला आदि कर महात्मा की ओर पानी फैंकता था पर महात्मा उससे कुछ कहे बिना पुनः नहाने लौट पड़ते थे। एक दिन यह क्रम इक्कीस बार चला! मुसलमान ने हार कर पूछा 'आपको गुस्सा कैसे नहीं आया ?' महात्मा ने जवाब दिया 'मुझे तो इतनी बार गंगास्नान का मौका मिला, मेरा सौभाग्य ही है, गुस्सा क्यों आता !' अपने लाभ पर दृष्टि रखने से क्षमा सरलता से सिद्ध हो जाती है। जैसे बिना सूखे तिनकों के स्थल पर पड़ी आग स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही क्षमाशील के विरोधी भी स्वयं शांत हो जाते हैं। क्षमा का खड्ग जिसके पास है, दुर्जन उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। दवात की एक शीशी आती है जिसे

उलटने-पलटने पर भी उससे स्याही बाहर नहीं गिरती, उसका केन्द्रबिन्दु ऐसा रखते हैं कि स्याही न निकले। ठीक इसी प्रकार क्षमाशील व्यक्ति का केन्द्र बिन्दु परमात्मा से बाहर नहीं जाता। अतः बार-बार विचार करने की आवश्यकता है।

क्षमा को टाले नहीं कि 'आज प्रतिक्रिया कर लूँ, कल से क्षमा करूँगा' क्योंकि अक्षमा को एक बार स्थान मिल गया तो वह बढ़ती ही जाती है, उसे हटाना उतना ही मुश्किल हो जाता है। ऐसे ही 'कहीं एकांत में क्षमा का अभ्यास करेंगे'—यह भी नहीं सोचना चाहिये। एकांत में कोई विरोधी होगा नहीं तो क्षमा करोगे किसे ? विरोध होने पर ही क्षमा का अभ्यास संभव है। परमात्मा अत्यन्त क्षमाशील होने से ही हमारे अनादि काल के सब अपराध क्षमा कर हमारा कल्याण कर देते हैं। वे ही हमारे अंदर बैठे हैं, यह विचार रखने से भी क्षमा-भाव बढ़ता है। इन साधनों के अनुष्ठान से ही आत्मा की व्यापकता समझ आकर शोकनिवृत्ति संभव होती है।

आर्जव

ज्ञानसाधना का पाँचवाँ धर्म आर्जव अर्थात् सीधापन, सरलता, एक-समान व्यवहार करना है। जैसे सूर्य, वायु, आदि भेदभाव नहीं बरतते ऐसे साधक भेदभाव का व्यवहार न करे। 'मेरा-तेरा' की दृष्टि ही भेदभावपूर्वक कुटिलता कराती है। दो भाई प्रेम से रह रहे थे। एक दिन छोटा भाई एक गन्ना लाया। एक तरफ से उसका पुत्र और दूसरी तरफ से भतीजा दौड़ आये, गन्ना माँगने लगे। उसने गन्ने के दो टुकड़े किये। दायीं ओर गन्ने का ऊपरी हिस्सा और बायें हाथ में जड़ की तरफ वाला हिस्सा था। लड़का बायें और भतीजा दायें खड़े थे। उसने दाँये हाथ वाला भतीजे को तथा बायें हाथ वाला लड़के को दे दिया; यों करने में हाथ कैंची के आकार में आ गये ! बड़े भाई ने देख लिया, कहा 'आज तूने कैंची डाल दी। अब शांति से बँटवारा कर ले।' मेरा-तेरा की दृष्टि आने

पर भेदभाव न हो यह संभव नहीं। सहजता तब रह नहीं सकती। अतः साधक इस कुदृष्टि से हमेशा बचे अन्यथा कपट, कुटिलता की ओर चला जायेगा। आर्जवशील के ही विचार पवित्र होंगे, बिना आग्रह के वह सत्य को समझेगा। जैसे बच्चा माता से अपने भाव नहीं छिपाता ऐसे साधक भी छिपाने से बचे, अपना हृदय खुली पुस्तक-सा रखे। शुद्ध मन ही मूल्यवान् है जैसे बेदाग हीरा, स्फटिक आदि ही कीमती होता है। परमेश्वर पूर्णतः ऋजु है, सम है, बिना भेदभाव के है। भक्त के प्रति ईश्वर कोई भेदभाव से व्यवहार नहीं करता वरन् वह भक्त की ही विशेषता है कि ईश्वरकृपा पाता है : जैसे शीतकाल में जो धूप में बैठेगा उसे गर्मी मिलेगी, जो कमरे में ही रहेगा उसे नहीं मिलेगी, इससे सूर्य में भेदभाव नहीं आ जाता; वैसे ही परमेश्वर भेदभाव से रहित ही है, भक्त उसकी कृपा पा लेता है, दूसरा नहीं ले पाता। परमेश्वर की ओर जाना है तो परमेश्वर के गुण स्वयं में लाने पड़ेंगे। आर्जव भी ऐसा ही गुण है जिसे जीवन में लाना साधक का कर्त्तव्य है।

आचार्य उपासना

गीतोक्त साधकधर्मों में छठा है आचार्य की उपासना। शास्त्र-रहस्य जाने, उसे हृदयंगम करे, स्वयं शास्त्रोक्त तत्त्व आचार में लाये और अन्यों को भी शास्त्रीय आचार में संलग्न करे—वह आचार्य कहलाता है। केवल जानना या केवल मार्गदर्शन करना पर्याप्त नहीं, स्वयं उसका अनुष्ठान भी करे तब आचार्य है। ज्ञानी तो चाहे जैसा आचार कर सकता है, जड उन्मत्त बालक पिशाच आदि की तरह रह सकता है, लेकिन ऐसा ज्ञानी 'आचार्य' नहीं हो सकता। और जो अशास्त्रीय आचार-विचार रखे व सिखाये वह भी आचार्य नहीं हो सकता। आचार्य की उपासना का श्रुति-स्मृति में बहुत महत्त्व बताया गया है। शोचनीय प्राणी भी आचार्यकृपा से तर जाता है, परमतत्त्व पा लेता है। भगवान् भाष्यकार स्वयं लिखते हैं 'आचार्यपूजा हि अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्था इष्यते'—यह सर्वमान्य है कि

अभिलषित प्रयोजन की सिद्धि के लिये आचार्य का पूजन प्रबल उपाय है। अन्यत्र उन्होंने कहा है कि गुरु के अलौकिक प्रभाव का कोई उदाहरण ही नहीं है क्योंकि वह शिष्य को अपना स्वरूप ही बना देता है। पारस भी लोहे को सोना बना पाता है, पारस नहीं बना सकता। अतः गुरु का चमत्कार निरुपम ही मानना पड़ता है। शास्त्र तो अनादि काल से मौजूद है, वह हमारा कल्याण कहाँ कर पाया ! विचार करने पर पता लगता है कि हमें सद्गुरु मिले तभी हमारा कल्याण हुआ, अतः वे ही प्रधान हेतु हैं। सूर्य कमल को खिला तो देता है पर तभी जब कमल जल में हो, बाहर पड़े कमल को तो वह सुखा ही डालेगा ! शिष्य भी गुरुसन्निधि में रहे तभी शास्त्र उसके अज्ञान को मिटायेगा, गुरु के बिना तो शास्त्र और ज़्यादा उलझन का हेतु बन जायेगा। अतः अध्यात्मसाधक को सद्गुरु का ही समाश्रयण लेना चाहिये। गुरु के पास रहे, सेवा करे तभी गुरु उसकी योग्यता की जाँच कर पायेगा। गुरु जो निर्विशेष तत्त्व समझाते हैं उसे ग्रहण करना चाहता भी है या नहीं—यह गुरु को तभी मालूम पड़ेगा जब शिष्य निकट रहेगा। हर व्यक्ति दीर्घ काल तक स्थूल शरीर से नहीं भी निकट रह पाये तो भी उसे मन से गुरुचिन्तन करते रहना चाहिये जैसे माता दूर होने पर भी पुत्र का चिंतन करती है। शिष्य का मन सांसारिक वस्तुओं में न लगे यह ज़रूरी है, अतः उसे गुरु के चरणकमलों में मन लगाये रखना चाहिये। शरीर से भी उनकी आज्ञाओं का पालन अर्थात् धर्म करते रहना चाहिये। गुरु की शिक्षा का पूर्ण तत्परता से पालन करना ही उनकी मुख्य उपासना है। जैसे चिड़ियों के चूज़े खुद नहीं खा सकते, चिड़िया ही उनके मुँह में डाले तो खाते हैं ऐसे हम स्वयं शास्त्ररहस्य नहीं समझ सकते, आचार्य ही समझाये तो हमें पता चल सकता है। अतः स्वयं के भरोसे न रहकर आचार्य की महत्ता याद रख उन्हीं की शरण में रहना चाहिये।

गुरु के प्रति समर्पण का प्रसिद्ध दृष्टांत छत्रपति शिवाजी हैं।

उन्होंने समर्थ गुरु रामदास को अपना सारा राज्य अर्पित कर दिया, फिर उन्हीं की आज्ञा से केवल व्यवस्थापक की हैसियत रखकर राज्य की सँभाल करते रहे। अतएव उन्होंने अपने राज्य का ध्वज भी भगवे रंग का रखा था क्योंकि राज्य तो गुरु का, महात्मा का था। यों अपने 'स्व' का समर्पण करने पर ही गुरु का पूर्ण नियंत्रण शिष्य पर रहता है जिससे शिष्य वही बन जाता है जो गुरु है। जैसे मरणासन्न रोगी वैद्य से शास्त्रार्थ नहीं करता, जो दवा वह बताये उसे जल्द से जल्द लेता है, वैसे ही संसारताप से तप्त शिष्य को गुरु का उपदेश शीघ्रातिशीघ्र अपने जीवन में उतारना चाहिये, ऊहापोह में ही इतना समय न गँवा दे कि साधना करने की अवस्था ही बीत जाये ! अपनी योग्यतानुसार ही शिष्य समझ पायेगा अतः ज़रूरी नहीं कि वह शास्त्र का विद्वान् बन सके लेकिन शास्त्रोक्त साधन अपना कर स्वयं का कल्याण तो कर ही सकता है। अतः जैसे रोगी खुद वैद्य बनकर तब दवा नहीं लेना चाहता वरन् उपलब्ध वैद्य से पूछकर दवा लेकर ठीक होना चाहता है, ऐसे शिष्य यह न सोचे कि पूरा शास्त्र समझकर साधना करूँगा, वरन् गुरु जैसा बताये वैसे साधन में लग जाये। चिड़िया का बच्चा खुद दाना नहीं ही ले पाता, चिड़िया ही उसे खिलाती है; इसी प्रकार साधक अपने लिये उपयोगी साधन नहीं ढूँढ सकता, गुरु ही उसे उसके योग्य साधन निश्चित बताते हैं। शिष्य को परमेश्वरप्राप्ति हो तभी गुरु अपनी सफलता समझता है। अतः परमेश्वर को प्राप्त करना चाहे तो शिष्य को गुरु के प्रति समर्पण रखना ही उचित है।

क्योंकि गुरु शास्त्रानुसारी ही उपदेश देता है इसलिये शिष्य को समझते हुए उसके पालन का मौका रहता है। गुरु की बात माननी तो है, पर साथ ही साथ समझनी भी है। यदि विचार से दूर रहेगा तो केवल अक्षरशः आज्ञा-पालन से परम कल्याण नहीं प्राप्त कर पायेगा। किसी के घर बिल्ली पाली हुई थी। श्राद्धादि के समय वह बीच में न आ जाये, अतः पिता कहते थे 'बिल्ली बाँध दो तब कर्म

प्रारंभ करें।' पुत्र आज्ञाकारी तो थे, समझदार नहीं थे। पिता जी मर गये। कुछ दिनों में बिल्ली भी मर गयी। अब पुत्र नयी बिल्ली लाये क्योंकि बिल्ली बाँधे बिना श्राद्ध कैसे होगा ? विचारहीन व्यक्ति इसी प्रकार गुरु की आज्ञा का भाव समझ नहीं पाते तो परिस्थिति बदल जाने पर समुचित धर्म भी नहीं कर पाते। अतः शिष्य विनम्रता-पूर्वक पूछे, समझने की कोशिश करे, यह ज़रूरी है पर समझने से पूर्व ही उनकी आज्ञा का पालन तो प्रारंभ कर ही दे। जैसे दृश्य को आँखों की सीध में ले आओ तो तुम्हारी आँख में उसका चित्र बनना कोई मुश्किल नहीं होता ऐसे ही आचार्य से शिष्य का समीचीन संबंध बन जाये तो न गुरु को व न शिष्य को कोई मुश्किल पड़ती है, आराम से शिष्य परमेश्वर का दर्शन पा लेता है। नाली बनाने का परिश्रम कर दो तो नहर से खेत में पानी स्वतः आ जाता है; गुरु-सेवा का भी परिश्रम कर लो तो गुरु में जो परमात्मज्ञान है वह स्वतः तुम्हारे हृदय में उतर आयेगा।

शौच

शौच अर्थात् स्वच्छता का भी साधना में पूरा महत्त्व है। भाष्यकार बताते हैं कि बाहरी-भीतरी दोनों तरह की शुद्धि साधक में अपेक्षित है। शरीर, वस्त्र, घर आदि भी साफ-सुथरे रखे और मन-बुद्धि भी राग, द्वेष, माया, मात्सर्य, मद आदि से रहित रखे, मैत्री, मुदिता आदि सद्गुणों से सज्जित रखे। जैसे बाहरी सफाई रोज़ करनी पड़ती है क्योंकि मलों का निरंतर स्राव होता है ऐसे ही मन भी एक बार शुद्ध कर लेने से शुद्ध बना ही रहेगा यह मानकर नहीं बैठ सकते, हर व्यवहार में कुछ-न-कुछ गंदगी आकर मन पर बैठती रहती है जिसे लगातार जागरूकता से साफ करते रहना पड़ेगा तभी शौच का अनुष्ठान होगा। राग आदि थोड़े-से भी हुए तो ध्यान आदि में विघ्न ही करेंगे, मन को अशांत कर देंगे, आत्मचिन्तन के

बजाय विषयचिंतन में लगा देंगे। साधक के ज़्यादातर विक्षेप बाहरी कारणों से नहीं वरन् निजी राग-द्वेषादि से होते हैं, अतः इन्हें दुश्मन ही जानना चाहिये। कुछ लोग केवल बाहरी शौच पर ख्याल रखते हैं; वह भी अध्यात्मसाधना के लिये पर्याप्त नहीं। दूसरे लोग भीतरी शौच के महत्त्व को ही आँकते हैं, बाहरी को व्यर्थ मानते हैं; वह भी पर्याप्त नहीं। दोनों शुद्धियाँ ज़रूरी हैं, कोई एक पर्याप्त नहीं। खान-पान, रहन-सहन, मेल-जोल, बोली-चाली सभी में शौच का ख्याल रखना पड़ेगा। अशुद्ध आहार से मन अशुद्ध ही बनेगा, अशुद्ध दोस्तों से संस्कार अशुद्ध ही मिलेंगे, अशुद्ध पढ़ने-बोलने से वैसे ही संस्कार बनेंगे, अतः हर स्तर का शौचाचार चाहिये। सत्य, इन्द्रियनिग्रह, दया आदि को भी शास्त्र में शौच कहा है। ये बाहरी-भीतरी दोनों हैं क्योंकि मन में भी होंगे और बाहर भी प्रकट होंगे। पाश्चात्य लोग भी सफाई को ईश्वरता के निकट मानते हैं। शास्त्रीय आचार का परित्याग कामनावश ही होता है। अतः स्पष्ट है कि बाहरी शौच तभी छोड़ा जाता है जब पहले भीतर कामना की अशुद्धि आये। निष्काम कर्म शास्त्रानुसारी ही हो सकता है और तभी वह शुद्ध होगा, शौच के अनुकूल होगा। यह भीतर-बाहर का संबंध विवेकपूर्वक समझते रहना चाहिये। शुद्ध दूध भी कुत्ते के चमड़े में रखा हो तो पीने लायक नहीं रहता, ऐसे ही बाह्य अशौच वाले में कथंचित् भीतरी सफाई हो तो भी मूल्यवान् नहीं समझी जायेगी। इसी तरह मन में क्रोधरूप चाण्डाल पाले रहे और बाहरी स्पर्शास्पर्श करे तो भी उसका मूल्य नहीं। विवेक से दोनों तरह का शौच रखना ज़रूरी है।

शुद्ध आचार से संस्कार भी शुद्ध बनते हैं और आगे अधिक शुद्धि की ओर ले जाते हैं, शुद्ध प्रेरणा देते हैं। एक मोची काशी में 'करवत' लेने पहुँचा। 'करवत' वहाँ एक कुआ है जहाँ मरने से अगला जन्म इच्छानुसार प्राप्त होता है। वर्तमान में तो वहाँ मरने पर प्रतिबंध है। मोची से जब ब्राह्मण ने संकल्प करने को कहा कि

अगले जन्म में क्या बनना चाहता है, तब वह सोचने लगाः 'ब्राह्मण बनना ठीक है, काम-धंधा कुछ नहीं फिर भी लोग पैर पूजकर हलुवा-खीर खिलायेंगे।' लेकिन सोचा--'वेद पढ़कर याद करना पड़ेगा, जाड़े में भी सवेरे चार बजे नहाकर जप करना पड़ेगा। यह तो रोज़ का टण्टा हो जायेगा। इससे ठाकुर, क्षत्रिय बनना ठीक है, ठाठ-बाट से रहेंगे। किन्तु यदि लड़ाई हुई तो क्या होगा ! गाँव के ठाकुर का हाथ ही कट गया था, जीवनभर परेशान रहे। अतः यह नहीं, बनिया बनना अच्छा।' फिर याद आया 'कस्बे के सेठ जी को रात-रात भर बैठकर तलपट मिलानी पड़ती थी फिर भी दिवालिये हो गये ! घर-खेत सब बिक गये। किसी की सहानुभूति भी नहीं मिली क्योंकि सब सोचते रहे 'हमें ठगता था अतः अच्छा ही हुआ।' बनियों की भी दुर्गति है।' आखिर उसने निर्णय किया 'सबसे अच्छा है मोची बनना ! न नहाने-धोने का नियम, न लड़ाई-झगड़े से मतलब, न हिसाब मिलाना, न दिवाला निकलना! शांति से गुजर हो जाती है।' तात्पर्य है कि जैसा जीवन बिताओगे वैसे ही संस्कार बनकर उधर ही प्रेरित करेंगे। अतः बाह्य आचार में भी शौच का महत्त्व कम नहीं समझना चाहिये और भीतरी शौच का भी पूरा ख्याल रखना चाहिये तभी ज्ञान की योग्यता मिलेगी जिससे शोकनिवारक आत्मबोध संभव होगा।

स्थिरता

आठवाँ धर्म स्थैर्य या स्थिरता बताया है। जैसे बड़े आदमी से मिलने जाना हो तो कपड़े-लत्ते भी उसी लायक पहने जाते हैं ऐसे भगवत्प्राप्ति करनी हो तो अपने अंदर भी ये श्रेष्ठ गुण लाने पड़ते हैं। परमेश्वर नित्य स्थिर, अचल, कूटस्थ है अतः साधक भी स्थिरता का अभ्यास करे तो परमेश्वर-समान हो जायेगा। अपने नियमों पर दृढ रहना स्थिरता है। कठिनाई, दुःख आदि से विकृत

न हो जाना, सफलता आदि से फूल न जाना, हर परिस्थिति में समान रहना स्थिरता है। छोटा गड्ढा जल्दी भर जाता है, सूख जाता है, अस्थिर है; समुद्र स्थिर है, न भरता न सूखता है। जितनी वास्तविक विशालता होगी उतनी ही स्थिरता रहेगी, जब तक अस्थिरता है तब तक समझना चाहिये कि छिछलापन है, न्यूनता या कमी है, वास्तविक सम्पन्नता नहीं है। इसके लिये प्रबल उपाय यह है कि हमेशा याद रखो कि शरीर-मन समेत सारा संसार परमेश्वर का है, तुम्हारा नहीं। जिसे सर्वथा अपना कहते हो वह शरीर भी एक दिन मछलियाँ नोच खायेंगी, गीध नोच खायेंगे ! अतः अपना कुछ नहीं, सब ईश्वर का है। इसमें ममता से ही अस्थिरता होती है—'मेरा हो गया, मैं धन्य हूँ' या 'मुझ से छिन गया, मुझे धिक्कार है।' जब सब हर हालत में ईश्वर का है, तब कहीं बढ़े या घटे इससे लाभ-हानि भी उसी की है, तुम्हारी कैसे ? तुम्हें तो धर्म-अधर्म का मौका दिया गया है, उसी के हिसाब से तुम्हें फल मिलेगा। अतः चीज़ों के मिलने-बिछुड़ने से अस्थिर मत बनो, धर्म में स्थिर रहो यही लाभप्रद है। सांसारिक पदार्थ, पद, यश आदि स्वयं इतने अस्थिर हैं कि उनसे तुम अपनी स्थिरता खो दो तो मूर्ख बनोगे क्योंकि वे तुम्हें अस्थिर करके भी तुम्हारे पास तो बने रहेंगे नहीं और तुम स्थिरता के लाभ से भी वंचित हो जाओगे एवं उनके सुख से भी वंचित हो जाओगे ! अस्थिर होना हर तरह से नुकसान देता है। साधना दीर्घ प्रक्रिया होने से धैर्यपूर्वक स्थिरता चाहती है, इसमें चाहे मंद गति से ही सही पर लगे रहोगे, स्थिरभाव से साधनों का अनुष्ठान करते रहोगे तो आत्मज्ञान पाकर शोकसागर से तर भी जाओगे, पर यदि अस्थिर रहे तो इस मार्ग में भी प्रगति नहीं कर पाओगे।

जिस प्रकार दिल्ली से कलकत्ते की ओर एक-एक मील भी चलते रहे तो आखिर कलकत्ता पहुँच जाओगे ऐसे परमेश्वर के गुण अपने अंदर लाते गये तो जीवभाव निवृत्त कर आनंदरूप परमात्म-

भाव भी प्राप्त कर लोगे। इस मार्ग पर चलने के लिये अमानित्वादि की दूरी तय करते जाना होगा तभी भूमतत्त्व की प्राप्ति होगी।

आत्मनियन्त्रण

गीतोक्त ज्ञानसाधनों में नवाँ है आत्मा का विनिग्रह अर्थात् आत्मनियंत्रण। यहाँ 'आत्मा' से मुख्य सच्चिदानंद आत्मा नहीं कह रहे वरन् मिथ्या आत्मा जो शरीर-मन हैं उन पर नियंत्रण करने को कह रहे हैं। हमारे ऊपर पाँच आवरण या कोष चढ़े हुए हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय; इन सब पर नियंत्रण लाना है। स्थूल शरीर को आसन, व्यायाम, सर्दी-गर्मी सहना, नियमित कार्य करना आदि से नियंत्रण में लाना चाहिये। शरीर रुग्ण रहेगा तो साधना नहीं कर पाओगे। यह स्फूर्तिपूर्वक आवश्यक कार्य करेगा तभी साधन-भजन के लिये पर्याप्त समय मिलेगा। शरीर सबल, पुष्ट रहेगा तभी थके बिना अभ्यास कर सकोगे। ऐसे ही प्राणमय पर नियंत्रण लाओ। प्राण के धर्म हैं भूख-प्यास, इन पर नियमन करना चाहिये। युक्ताहार के लिये इसीलिये गीता में कहा। समय, मात्रा, सात्त्विकादि गुण, सभी पर ख्याल रखकर भूख-प्यास मिटावे तभी प्राण नियंत्रण में आयेंगे। प्राणायाम आदि का प्रयोग भी इसीलिये है। प्राणों को व्यर्थ नहीं बर्बाद करना चाहिये। मनोमय कोष नियंत्रण में आ गया तो रुपये में अस्सी पैसे काम बन गया ! क्योंकि हमारे बंधन का प्रधान कारण यही है 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।' मनोराज्य आदि कल्पनाजाल में मत फँसो, जब जो कार्य करो तब उसीमें ध्यान देने का अभ्यास करो, इधर-उधर भटकने की मन को आदत मत पड़ने दो। विज्ञानमय कोश अर्थात् बुद्धि; निश्चयशक्ति पर नियंत्रण करो, अनिश्चय को प्रोत्साहन मत दो, विचार-परीक्षण आदि से निर्णय करो फिर उस पर दृढ रहो, निश्चय का अनुसरण करो। अभी प्रश्न उठता है 'सच

बोलूँ कि न बोलूँ'; नियंत्रण का पता तब लगेगा जब स्वतः सत्य ही बोलोगे, यह प्रश्न ही नहीं उठेगा। बुद्धि की प्रवृत्ति को शास्त्रीय बनाते जाओगे तो वह नियंत्रण में आती जायेगी। इन दोनों कोशों में इंद्रियाँ भी गृहीत हैं। ज्ञानेन्द्रियों पर और कर्मेंद्रियों पर नियंत्रण होना चाहिये ताकि वे आकृष्ट कर बहिर्मुखी न बना दें। उन्हें सद्विषयों में, शास्त्रीय विषयों में लगाने से वे असद्विषयों के प्रति आकृष्ट न होंगी तथा व्यर्थ विषयसेवन से बचोगे तो उन्हें भी सदा विषयलाभ की आदत नहीं बनेगी। इससे वे नियंत्रित होंगी। आनन्दमय कोश पर नियमन करना भी आवश्यक है। सांसारिक भोग हैं तो केवल दुःखमय पर भ्रम से उनसे सुख की प्रतीति हो जाती है जैसे दर्पण को चमकदार मान लिया जाता है जबकि चमक, प्रकाश तो सूर्यादि का है, या लोहपिण्ड को लाल चमक वाला मान लेते हैं जबकि है वह उसमें व्याप्त आग की। विषयों की परीक्षा करें कि मिलने से पूर्व और भोग के बाद वे क्या देते हैं और भोग के दौरान भी क्या 'वे' कुछ देते हैं या हम स्वयं के ही सुख को उनसे मिलता हुआ समझते हैं; तो आनंदमय कोष पर विजय मिल जायेगी। संस्पर्शज भोगों में रमण न करना भगवान् ने गीता में इसीलिये समझदार का लक्षण बताया है। जो यों पाँचों कोष नियन्त्रित रखेगा वही निष्कल, अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त करेगा।

एक राजा था। उसका एक स्वामिभक्त नौकर था। वह रात दिन राजा की सेवा में तत्पर रहे। बारह वर्ष तक निरन्तर सेवा करने के पश्चात् राजा ने कहा "कल प्रातः काल आ जाना और हीरे के कोठार में से एक घंटे के अन्दर जितना सामान निकाल कर ले जा सको, ले जाना।" नौकर प्रसन्न हो गया। उसी विचार में उसने भोजन भी नहीं किया, रात्रि में निद्रा भी नहीं आई। प्रातःकाल ही राजा के समक्ष गया। राजा ने कोषाध्यक्ष को आज्ञा दी "कोठार खोल दो, यह जितना ले जावे ले जाने दो।" कोषाध्यक्ष ने सुंदर स्त्रियाँ वहाँ बुलाई। आदेश के अनुसार उन्होंने मधुर

रूप से उसे अच्छे हीरे दिखलाये। एक से एक बढ़िया हीरा देखने में ही सारा समय अर्थात् एक घंटा समाप्त हो गया ! हीरा बटोरने लगा तो नियत समय समाप्त होने के कारण अधिकारियों ने रोक दिया, अतः वह कोई हीरा नहीं ले जा सका। रोने लगा कि हाथ कुछ नहीं लगा। राजा के समीप गया। मंत्री ने डाँट दिया "तुम क्यों देखने के टण्टे में पड़े ? जो सामने पड़े थे उन्हें ही ले लेते।"

राजा ने दूसरे कोषाध्यक्ष को बुलाया "स्वर्ण के कोठे में इसे ले जावो। इसने बड़ी सेवा की है। खज़ाना खोल दो।" राजा की आज्ञा पालन करना आवश्यक था। कोषाध्यक्ष ने कोठार के द्वार पर सुन्दर पलंग बिछवा दिया। वह तो साधारण नौकर था, शैय्या देखकर बैठा, फिर लेट गया, रात भर सोया था नहीं, अतः निद्रा आ गई, घंटा बीत गया ! अधिकारी ने खड़ा कर दिया "बाहर निकलो, अब तो एक अशर्फी भी नहीं ले जा सकते।" फिर रोने लगा। राजा ने कहा "अशर्फी नहीं ले गये ! तुम्हें दो अवसर दिये गये।" फिर तीसरे कोषाध्यक्ष को बुलाकर राजा ने आज्ञा दी। "चाँदी के कोष से यह जितने रुपये ले जा सके ले जाने दो।" कोषाध्यक्ष ने विचार किया 'एक घंटे में यह मनों चाँदी ले जावेगा।" अतः एक गोरख धन्धा सामने रख दिया। अजीब चीज़ देखकर नौकर ने उसे उठाया और हिलते ही वह फँस गया, निकला नहीं। उसे डाँटा "तुमने इसे खराब किया, इसे ठीक करो तब चाँदी ले जाओ।" बड़ा प्रयत्न किया। एक घंटे का नियत समय व्यतीत हो गया, खाली हाथ लौटा। फिर रोने लगा। राजा के पास गया।

राजा को बड़ी दया आ गई, आज्ञा दी "ताँबे के पैसे जितने यह ले जा सके ले जाने दो।" चौबीस घंटे से कुछ खाया नहीं था। कोषाध्यक्ष ने एक सोने की थाली में बढ़िया पदार्थ रख दिये। वह भी खाने की इच्छा से बैठा, खाना प्रारम्भ किया। पहले कभी ऐसा भोजन नहीं किया था। अतः खाने में ही घंटा समाप्त हो गया। निर्देश हुआ "अब इधर नहीं ठहर सकते।" बड़ा दुःखी होकर

निकला।

प्रातःकाल राजा से मिलकर बहुत रोया तो राजा ने दो आना महीना तरक्की कर दी, उसी को नौकर ने सुख मान लिया!

विचार करो, परमेश्वर ही राजा है। वह पंचकोष देता है। वहाँ तुम्हें रत्नराशि को प्राप्त करना था, फँसना नहीं था किन्तु स्त्री, पुत्र, पौत्र के सुख में असली उद्देश्य को भूल गये। आयु समाप्त होने पर घंटी बजी, सारा खेल समाप्त हो गया ! संसार में आनंद की भ्रान्ति है, प्राप्ति कुछ नहीं होती। जैसे दृष्टांत में स्त्रियाँ वैसे यहाँ कामनायें कोई माल लेकर कहीं जाने नहीं देतीं। विज्ञानमय कोष को स्वर्णभण्डार की जगह समझो। इससे करना तो चाहिये शास्त्रों का अध्ययन पर हम उपन्यास-अखबारों में इसे बर्बाद कर देते हैं, कुछ विचार करते भी हैं तो केवल विषयों के नाम-रूप-कर्म का, उनकी भी वास्तविकता तक नहीं जाते, उनमें अनुगत सच्चिदादिरूप का परीक्षण नहीं करते। चाँदी का खजाना मनोमय है जिससे ध्यान-धारणा द्वारा परमानंद पा सकते हैं पर वासनाओं के गोरखधंधे में ही फँसे रह जाते हैं। ताम्बे के कोष की जगह प्राणमय है; यहाँ भी भूख-प्यास पर नियंत्रण न कर इस कोष को बिगाड़ कर अशक्त रुग्ण बन जाते हैं। यह सब खोकर जब परमेश्वर के आगे गिड़गिड़ाते हैं तब वे भी दो आने जितने रसगुल्ला आदि क्षणिक सुख दे देते हैं और हम भी उसी से प्रसन्न हो जाते हैं कि 'परमेश्वर की बहुत दया है, धन-दौलत मिल गयी, लड़के-बच्चे बड़े हो गये !' यह सब 'दो आने' का ही सुख है। आत्मविनिग्रह न होने से ही हम महान् सुख पाने से वंचित रह जाते हैं और शोक से ग्रस्त बने रहते हैं।

वैराग्य

आत्मनियंत्रण अपेक्षा करता है इंद्रिय-विषयों के प्रति वैराग्य

की। भोग्यों से वैराग्य होगा तभी उन्हें छोड़कर आत्मा की ओर प्रवृत्ति होगी; अन्यथा क्यों विषयोपभोग छूटेंगे ! जैसे सिनेमा देखने के, गप हाँकने के, खाने-पीने के शौकीन लोग विद्या, धन आदि का विशेष अर्जन नहीं कर पाते क्योंकि उन्हीं में मशगूल रहते हैं, अर्जन के लिये ज़रूरी परिश्रम नहीं कर पाते, चित्त उधर एकाग्र नहीं कर पाते, ऐसे ही संसार से अविरक्त साधक भी अध्यात्ममार्ग पर प्रगति नहीं कर पाता। विवेकपूर्वक विषयों के दोष समझ कर याद रखना ज़रूरी है। बच्चा न साँप के और न अंगारे के दोष समझता है, देखते ही उधर आकृष्ट होता है; माता को भी दीखते वे वैसे ही हैं लेकिन उसे उनके दोष मालूम हैं, याद हैं अतः वह बच्चे को रोक लेती है। इसी प्रकार आपाततः तो विषय आकर्षक लगेंगे ही, आवश्यकता है उनके दोषों को समझने की, तभी साधक स्वयं को उनमें उलझने से रोक पायेगा। जैसे स्नेह ही डोरी देखने में नहीं आती पर बाँधे रहती है, ऐसे विषयों का बंधन दीखता नहीं लेकिन होता दृढ है। मनुष्य स्वतंत्रता भी चाहता है तो विषयभोगों की ! यह उनके बंधन का स्पष्ट प्रमाण है। जिस प्रकार सम्राट् को महाराज कहते हैं पर कहीं-कहीं रसोइये को भी 'महाराज' कह देते हैं तो वह सम्राट् हो नहीं जाता इसी प्रकार विषयबंधन में रहकर हम स्वतन्त्र हो नहीं सकते, कह भले ही दिये जायें। विषयों के आकर्षण वाले मन की परतंत्रता को हम स्वतंत्रता समझ लेते हैं पर है वह परतंत्रता ही। अतः इन्द्रिय-विषयों के दोषों का आलोचन कर उनके प्रति विरसता लाओ, उनके आकर्षण से स्वयं को बाहर करो। इसका सीधा उपाय है कि मन जो चाहे, उससे उल्टा करो ! मन प्रातः चार बजे सोना चाहता है अतः उठ जाओ। वह गर्म पानी से नहाना चाहे तो ठंडे से नहाओ। वह स्वर्ग जाना चाहे तो नरक जाने का संकल्प करो ! स्वर्ग से भी पुण्यक्षय होने पर अधःपतन के समय अतीव कष्ट होगा—यह याद करो। इस प्रकार अभ्यास करते-करते विषयाकर्षण क्षीण हो जायेगा तभी

साधना में प्रगति होगी। एक बात का ख्याल रखना—काँटा गड़ जाये तो उसे दूसरे काँटे से निकालना पड़ता है लेकिन फिर दोनों ही काँटे फेंक ही देतो हो ! इसी प्रकार आकर्षण काटने के लिये दोषदर्शन है, इसे द्वेषरूप में अपने अंदर बैठा नहीं लेना चाहिए अर्थात् जैसे संसार आकर्षण न कर पाये वैसे ही वह विकर्षण भी न करे यह सावधानी रखनी चाहिये। न प्रवृत्ति से और न निवृत्ति से बँधना है। 'मैं विरक्त हूँ' यह भी अभिमान का रूप न ले लेवे यह ज़रूरी है। जैसे पानी फिटकरी से साफ कर फिर उसमें से फिटकरी भी निकाल लेते हैं ऐसे यहाँ समझना चाहिये। विषयों के प्रति राग को दूर करने के लिये वैराग्य है, फिर वैराग्य के अंदर भी अहंमन्यता न होवे तभी वह पूर्ण होता है।

अनहंकार

अतएव भगवान् ने वैराग्य के ठीक बाद अनहंकार का विधान किया। लोग कहते हैं कि 'जप-तप-ध्यान करने वाले अभिमानी हो जाते हैं।' लेकिन इससे वे जो यह अर्थ निकालते हैं कि अतः जपादि न किया जाये, वह ग़लत है। अभिमान करने लायक कुछ हो तभी निरभिमान बनने में आनंद है ! यह बिल्कुल ठीक है कि साधन-निमित्तक अहंकार भी वैसे ही बुरा है जैसे अन्य अहंकार किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि साधना मत करो, वरन् यह है कि साधना से अहंकार बनने मत दो व जो बने उसे भी काट दो। गर्व को हमेशा दूर रखना चाहिये। 'अमानी' से मुख्यतः उस मान का त्याग कहा था जो व्यर्थ में ओढ़ते हैं अर्थात् अपने में न होने वाले गुणों के मान का त्याग बताया था। अनहंकार में वह गर्व छोड़ने को कह रहे हैं जो अपने में मौजूद विशेषताओं के कारण आता है।

दोषदर्शन

ज्ञान के साधनों के अनुष्ठान में प्रमुख स्थान संसार में दोषदृष्टि का है। गर्भवास आदि जन्म-संबंधी दुःखों व दोषों का बार-बार चिंतन करे कि कितनी गंदगी में नौ महीने पड़े रहना पड़ता है तो जीव आगे जन्म लेने से घबराये और मोक्षार्थ प्रयत्न करे; इसके बारे में सोचेगा ही नहीं तो जन्म से भय न होने पर जन्मान्तर से बचना क्यों चाहेगा ! ऐसे ही मृत्यु, बुढ़ापा रोग आदि सभी के दुःखों व दोषों को पुनः-पुनः मन में दुहराते रहना चाहिये! जवानी में प्रायः लोग संसार के सुखों को ही बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं, दुःखों को छिपाने की कोशिश करते हैं। अतः युवावस्था संसार के लिये खर्च हो जाने पर जब बुढ़ापे के साथ दुःखों पर दृष्टि जाती है तब उन दुःखों को न झेलने की ताकत रहती है न उनके निरोध के लिये आवश्यक साधना की सामर्थ्य बचती है। संसार में जवानी जाकर आती नहीं और बुढ़ापा आकर जाता नहीं ! अतः सांसारिक दुःख छिपाओ मत, उन्हें सुस्पष्ट देखो, प्रतीयमान सुखों की भी परीक्षा करोगे तो दुःखमय ही निकलेंगे, इन दुःखों को पहचान कर समय रहते जवानी रहते ही वह उपाय कर लो जिससे ये दुःख तुम्हें पीडित न कर सकें, अपनी सामर्थ्य इतनी बढ़ा लो कि विषयों की ताकत पीछे छूट जाये और इनमें उलझे बिना उस भूम तत्त्व को पा सको जिससे शोकसागर तुरंत पार हो जाता है।

असक्ति और अनभिष्वंग

अगला साधन बताया—असक्ति। संग कराने वाले विषयों के प्रति प्रेम न होना असक्ति है। सक्ति ही दृढतर हो तो अभिष्वंग कहलाती है अर्थात् उन विषयों से स्वयं को एकमेक कर लेते हैं जैसे पत्नी पुत्र आदि के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख

अनुभव करते हैं। इस अभिष्वंग को हटाना अनभिष्वंग है। इन दोनों के लिये साधन है यह याद करते रहना कि हमें पूर्व जन्मों के कर्मों की ही फलरूप से यहाँ प्राप्ति हो रही है। सक्ति और अभिष्वंग इसीलिये होते हैं कि हमें लगता है कि कहीं विषय हाथ से निकल न जायें या जहाँ पुत्रादि चेतन विषय हैं वहाँ वे हम से विमुख न हो जायें। लेकिन जिसे कर्म-फलव्यवस्था पर भरोसा है उसे निश्चय है कि इन्हें जब तक हमारे पास हमारे अनुकूल रहना है तब तक अवश्य रहेंगे और जिस क्षण नहीं रहना उसी समय लाख कोशिश करने पर भी नहीं रहेंगे, वह इनसे सर्वथा आश्वस्त रहेगा, इनसे चिपटे नहीं रहने की कोशिश करेगा। विषयों में संग करने से मन विषयमय बन जाता है, फिर परमात्मदर्शन नहीं कर पाता। संग में बहुत बल है, जैसा संग होगा वैसा मन बनेगा और वैसा फल मिलेगा! कच्चे चावल चबा लो तो पेट दूखता है, अग्नि का संग किये हुए चावल—भात—खाते हो तो सुपाच्य होते हैं ! यह संग का ही प्रभाव है। धूल भी हवा का संग करे तो आसमान तक पहुँच जाती है और पानी का संग करे तो कीचड़ बन जाती है ! धूल अपनी सामर्थ्य से आकाश तक नहीं पहुँचती वरन् वायु के संग के प्रताप से ही। संस्कृत कवियों ने भी कहा है 'पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम्'—चींटी चंद्रमा पर कभी नहीं पहुँच सकती लेकिन भगवान् शंकर के मस्तक पर चढ़ाये जाने वाले फूल पर बैठ जाये तो वहाँ पहुँचकर निकटवर्ती चन्द्रकला पर भी पैर रख सकती है ! इसी प्रकार जीव सत्संग से ही परमात्मलाभ कर सकता है। अतः विषयों से अभिष्वंग कभी मत करे, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-सन्तों का ही संग करे तो साधक अवश्य उन्नति करेगा।

समचित्तता

साधनामार्ग का पथिक इच्छापूर्ति पर हर्ष न करे और इच्छाविघात

पर क्रोध न करे वरन् हमेशा समचित्त बना रहे यह आवश्यक धर्म है। हर्ष अर्थात् 'मैं धन्य हो गया, मुझ जैसा सौभाग्यशाली कौन है, मैं चाहे जो कर सकता हूँ' ऐसी तीव्र उत्तेजना जो सुखावस्था में व्यक्त होती है। दुःख में दुःखहेतु के प्रति कोप होता है, उसका अपकार करने की इच्छा व कोशिश होती है। इन दोनों से दूर रहना चाहिये। अच्छा-बुरा जो मिला वह भगवान् का प्रसाद समझकर उसका उचित उपभोग कर लेना चाहिए। अज्ञावस्था में सुख-दुःख अवश्य आयेंगे, चित्त को 'सम' रखने से ऐसा नहीं कि सुख भी दुःख लगे या दुःख सुख लगे, वरन् जैसे आड़ में रखे दिये की लौ 'सम' रहती है, हवा से हिलती नहीं, वैसे सुख-दुःख से चित्त विक्षिप्त नहीं होगा, उछाल नहीं खायेगा, विषाद में नहीं डूब जायेगा।

भक्ति

इन सभी साधनों के लिये भगवान् की अनन्य भक्ति आवश्यक है, उसमें निश्चयपूर्वक लगा रहे तो वे कृपा कर अन्य साधन संभव बना देते हैं। साधक स्वभावतः और संस्कारतः शुद्ध स्थान में रहे। हो सके तो शांत जंगल, नदीतट, देवालय आदि ऐसी जगहों में रहे जहाँ निर्विघ्न साधना संभव हो। हर हालत में, संसार-प्रवण तथा कुसंस्कारी लोगों की भीड़-भाड़ में तो कभी रति न करे अर्थात् वहाँ उपलब्ध सुख-सुविधा के लोभ में वहाँ समय न बिताने लगे। संग का प्रभाव अत्यधिक होता है अतः असाधकों का संग अवश्य पथभ्रष्ट करेगा। आत्मसंबंधी ज्ञानों में हमेशा संलग्न रहे और मोक्ष की परमपुरुषार्थता को सदा याद रखे तो साधक शोकनिवर्तक भूमज्ञान पा ही लेगा।

विवेकादि साधन-सामग्री को एवं गीता में बतायी ज्ञान-साधना को जो तत्परता से करेगा वही उपनिषदों में कहे आत्मा के व्यापक

स्वरूप को ठीक तरह समझ कर शोक से पार हो सकेगा। अन्यथा ग्रंथों को पढ़ लेने से भी शोक नहीं मिटता यह स्वयं नारद जी ने बताया। परम ज्ञान तक पहुँचाने के लिये कदम-कदम ले चलते हुए सनत्कुमार ने नारद को यही कहा कि जो तुमने अध्ययन किया है वह 'नाम' ही है ! अभी नाम की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करो ताकि नाम के क्षेत्र में स्वतन्त्र गति प्राप्त हो जाये। वह उपासना कर नारद ने नाम से भी जो व्यापक है उसके बारे में पूछा तो सनत्कुमार ने कहा कि 'वाक्' ही नाम से बढ़कर है। ऋग्वेदादि सब लौकिक-अलौकिक शास्त्र, समस्त लोक, महाभूत, प्राणी, धर्माधर्म, प्रिय-अप्रिय आदि जो कुछ है उसे वाक् ही विज्ञापित करती है अतः नाम से व्यापक वाक् ही उपास्य है।

वाक् का महत्त्व

संसार के सभी अनात्म-पदार्थ तीन भागों में बँटे हैं—नाम, रूप और क्रिया। संसार में हर चीज़ का नाम अवश्य है, उसका रूप है, उसमें क्रिया है। एक अविनाशी प्रभु को छोड़कर बाकी सब इन तीनों से ग्रस्त हैं। क्रिया से विक्रिया, परिवर्तन, तब्दीली भी समझना; हर वस्तु में या परिस्पंदरूप या परिवर्तनरूप क्रिया अवश्य है। जन्म-नाश तो परिवर्तन हैं ही, स्थितिकाल में भी हर चीज़ में बदलाव आता ही रहता है। 'रूप' केवल आँखों से दीखने वाला आकार नहीं वरन् जिसके सहारे पदार्थ का 'निरूपण' होता है, उसके बारे में कहा-समझा जाता है, उसे पदार्थ का 'रूप' कहते हैं। शब्द में भी यह 'रूप' है क्योंकि शब्द भी उदात्त, कर्कश आदि तरहों से निरूपित होता है। स्वाद, स्पर्श आदि सब इस 'रूप' में इकट्ठे हो जाते हैं। जगत् के सब पदार्थों का निरूपण हो सकने से वे रूपवान् हैं। और रूप को व्यक्त किया जाता है नाम से तथा नाम अर्थात् शब्द को उत्पन्न करने वाली है वाक् अर्थात् कर्मेन्द्रिय,

क्रिया; क्रिया से शब्द उत्पन्न होता है। दो चीज़ों की आपस में टक्कर होने से ही शब्द पैदा होता है, वह चाहे हवा की ही टक्कर हो। यद्यपि अनाहत ध्वनि की भी चर्चा आती है तथापि विशिष्ट आघातों के न होने को ही वहाँ अनाहत कह देते हैं, सर्वथा क्रिया के बिना शब्द उससे नहीं सिद्ध होता। क्रियोत्पादक वाक् को नाम से बढ़कर बताया। घड़े में वायु भरी रहती है, पानी डालो तो वह वायु निकल जाती है। ऐसे ही मन में, दिमाग में संसार के नाम भरे हुए हैं; वाक् के प्रयोग से उसमें परमेश्वर के नाम भरोगे तो संसार के नाम निकल जायेंगे। बिना दूसरी चीज़ भरे तो पहली चीज़ निकलेगी नहीं। अतः वाक् की महत्ता स्पष्ट है।

अकबर-बीरबल का एक किस्सा प्रसिद्ध हैः अकबर की बेगम ने बादशाह से कहा 'बीरबल को फालतू बढ़ावा दिया हुआ है, उसे हटाकर मेरे भाई को मंत्री बनाओ।' अकबर साले के लिये सीधे कैसे मना करता ! अतः बोला 'परीक्षा लूँगा, अगर वह बीरबल से बेहतर निकला तो उसे ही रख लूँगा।' दरबार में बादशाह ने खड़िया से एक लकीर खींच कर कहा 'इस लकीर को न काटना है, न मिटाना है, फिर भी छोटा कर देना है।' पहले बेगम के भाई को मौका दिया। बहुत सोच-विचार कर बेचारे ने कहा 'यह तो असंभव है।' फिर बीरबल की बारी आयी। उसने वही खड़िया लेकर उसी रेखा के पास एक उससे भी लम्बी लकीर खींच दी ! कहने लगा 'जहाँपनाह ! आपकी लकीर छोटी हो गयी।' बेगम भी समझ गयी कि उसके भाई की बुद्धि कितनी थी। जब समान-जातीय दूसरी चीज़ आयी तभी बड़ी-छोटी का ज्ञान हुआ। विचार करो : यहाँ परमेश्वर ही बादशाह है। सब शास्त्रों को समझने वाली बुद्धि बीरबल है, तीक्ष्ण बुद्धि ही समस्त शास्त्रों के रहस्य को प्रकट कर सकती है। परन्तु यह माया को पसंद नहीं ! माया ही बेगम है और उसका भाई है मन। मन कहता है 'बुद्धि में क्या विशेषता है कि उसे प्रश्रय दिया जाये ? मौका मुझे मिलना चाहिये।' माया ही

स्वार्थ-लोभ से बुद्धि की प्रधानता में रुकावट डालती है, आत्मा को ठीक मार्ग पर चलने नहीं देती। परमेश्वर ने परीक्षा के लिये ही नाम-रूप-कर्म की लकीर खींच दी है। इस संसाररूप लकीर को मन छोटा करने की कोशिश करता है, इसके दुःखों को घटाने, समाप्त करने का खूब प्रयत्न करता है। क्योंकि संसार तो परमेश्वर का बनाया है इसलिये इस पर मन का यह बस तो चल नहीं पाता कि इसे काट दे या मिटा दे तथा अन्य कोई उपाय इसे सूझता नहीं जिससे यह छोटा हो। जब मन हार मान लेता है तब बुद्धि उपाय करती है—वह भूमा की लकीर खींच देती है ! जब परमात्मा का व्यापक स्वरूप प्रकट हो तभी संसार छोटा होगा। सांसारिक दुःख तब तक न मिट सकते हैं न कम हो सकते हैं जब तक अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार न हो। बिना अधिष्ठान का ग्रहण किये अध्यस्त की तुच्छता नहीं लाई जा सकती। अतः वाक्-रूप क्रिया का महत्त्व है क्योंकि वाक् से शास्त्रों को हृदयंगम करने पर ही संसार की अल्पता समझ आयेगी। वाक् को परमेश्वर के ही नाम से संलग्न करने पर वह शोकसागर से पार ले जायेगी।

यद्यपि कारण होने से वाक् अपने कार्यरूप नाम से श्रेष्ठ है क्योंकि कारण ही कार्य की अपेक्षा प्रधान गिना जाता है जैसे गहनों से सोना या पुत्र से पिता, तथापि वाक् की श्रेष्ठता इस पर भी निर्भर करती है कि उसका उपयोग क्या किया; नामात्मक ब्रह्म की उपासना करे अर्थात् परमात्मा के नामों का ही जप आदि करे तभी वाक् अपनी श्रेष्ठता साबित कर पायेगी। परमेश्वर का नाम तो गुरु से मिल जायेगा पर वाक् से उसका प्रयोग साधक को ही करना पड़ेगा। बीज मिलना महत्त्वपूर्ण है पर उसे बोना और भी ज़रूरी है ! अकाल के समय सरकार ने बीज बाँटे। जिन्होंने तात्कालिक भूख को ही महत्त्व दिया उन्होंने वे बीज खा लिये ! एक-दो दिनों की भूख तो मिटी पर भूखमरी वैसी-की-वैसी रही। जिन्होंने खाने से बोना बेहतर समझा उनका भूख का कष्ट कुछ

समय तो रहा पर फसल हो जाने पर आगे के लिये खुशहाली हो गयी। बीज को खाने से उसे बोना ही श्रेष्ठ है क्योंकि तब आगे अधिक उपलब्ध होता है। इसी तरह गुरु से नाम ग्रहण करो लेकिन उतने से कार्य नहीं होगा, वाक् द्वारा उसका प्रयोग करना पड़ेगा; जप, पाठ, अनुष्ठान करना पड़ेगा तभी नाममात्र की अपेक्षा वाक् बड़ा फल देगी।

मन्त्रयोग

मन्त्रयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग आदि अनेक योग हैं, सभी महत्त्वपूर्ण है पर इनमें मन्त्रयोग सरल पड़ता है। नाम-रूप द्वारा ही जीव का संसार में भ्रमण है और इसी के सहारे वह मुक्त हो सकता है। फिसल कर गिरते भी धरती पर हो और धरती का सहारा लेकर ही फिर खड़े होते हो। जहाँ गिरे, वहीं की भूमि उठने के काम आती है। ऐसे ही नाम-रूप से संसरण है तो इसी से बंधनिवृत्ति संभव होगी। पारमेश्वरी सृष्टि नाम-रूप की ही है, इससे मोहवश ही बंधन है। जैसे व्यापारी-संस्थानों में कम भागीदारी वाला भी अपना प्रभाव अधिक कर लेता है वैसे संसार के हर पदार्थ में ब्रह्म के अस्ति-भाति-प्रिय ये तीन अंश हैं, जबकि माया के दो ही अंश हैं नाम व रूप, लेकिन फिर भी माया ही अपना प्रभाव जमाये है ! यह माया की चतुरायी ही है कि ब्रह्म को दीखने ही नहीं देती। नाम-रूप के द्वारा ही आत्मा माया के प्रपंच में फँसा है अतः इन्हीं के सहारे इस दलदल से उठना भी पड़ेगा। क्योंकि नाम-रूप का हमें अभ्यास है ही इसलिये इनके प्रयोग में हमें सुविधा महसूस होती है अतएव इसे सरल मार्ग बताया। बिना शास्त्र-आचार्य के उपदेश और विवेकपूर्ण विचार के नाम-रूप का प्रयोग बंधनकारी है, उपदेशानुसार विचार के साथ किया गया इनका प्रयोग बंधन से छुड़ाने वाला है। तरीका, युक्ति, हर परिस्थिति

को लाभकारी बनाने में समर्थ है। प्रसिद्ध ही है कि एक राजाने किसी को समुद्र की लहरें गिनने बैठा दिया था कि इस काम में तो घूस नहीं खा पायेगा लेकिन उसने वहाँ भी आने-जाने वाले नाविकों से धन कमा ही लिया ! अतः उपलब्ध बावन अक्षरों से ही चाहे संसार में उलझे रहो और चाहे परमात्मा की प्राप्ति कर लो। वाक् से सम्यक् नाम का प्रयोग किया तो वाक् का बड़प्पन सार्थक होगा व कल्याण संभव हो जायेगा।

परमात्मा से प्रेम

मन्त्रयोग फल दे इसके लिये परमेश्वर में भक्ति की अत्यन्त ज़रूरत है, बिना भक्ति के केवल वाणी से नाम का उच्चारण करते रहना सफल नहीं होगा, इस योग का एक प्रधान अंग ही भक्ति है। जैसे 'गियर' या अन्य कोई प्रधान पुर्जा न हो तो गाड़ी चलेगी नहीं, चूल्हा न हो तो भोजन नहीं बन सकता, ऐसे ही बिना भक्ति के मन्त्रयोग फलीभूत नहीं हो सकता। भक्ति अर्थात् मन प्रेम से परमेश्वर में लगे। भक्ति से मन 'पिघलता' है; जैसे लाख का आकार बदलना हो तो उसे पिघालना पड़ता है ऐसे संसार के आकार में अभी मन है, इसे परमात्मा के आकार का बनाने के लिये पहले पिघालना पड़ेगा; पिघल कर संसाराकार छूटेगा तभी परमात्मा का आकार यह ग्रहण करेगा। यद्यपि यह पिघालना अन्य भावों से भी संभव है, जैसा जय-विजय ने रावणादि बनकर द्वेष से मन पिघालकर भगवद्-आकार बना लिया, तथापि वह अतिकठिन है और साधना के दौरान सुखद नहीं है। सात्त्विक प्रेम से मन पिघले यह उससे सरल है तथा साधना भी आनंदप्रद है। लोग इंद्र के उपवन में कल्पवृक्ष मानते हैं जो सारी इच्छाएँ पूरी करता है लेकिन हमारे पास यह प्रेमभाव रूप कल्पवृक्ष है, इसकी तरफ ध्यान नहीं देते। यह प्रेम यदि संसार से हटाकर परमेश्वर में लगा दें तो

यही कल्पवृक्ष है, सारी कामनाएँ पूरी कर देता है।

सांसारिक पदार्थ कमाने में भी बुद्धि चाहिये। एक ब्राह्मण रसोइये का कार्य करता था। धन की उसे बहुत लालसा थी। एक महात्मा ने भगवती का मन्त्र बताकर अनुष्ठान करने को कहा कि सवा साल जपने से धन मिलेगा। ब्राह्मण ने जपना प्रारंभ कर दिया। सवा साल हुआ तो जप करते समय ही एक माई आयी, उस ब्राह्मण के पास चारों ओर चक्कर लगाया और बार-बार कहने लगी 'तेरे प्रारब्ध में आठ रुपये से अधिक नहीं !' कई बार सुना तो ब्राह्मण ने गुस्से में कहा 'आठ भी लेकर चली जा !' यह कहते ही उसे दीखा कि वह स्त्री वहीं लापता हो गयी, अदृश्य हो गयी ! उसे आश्चर्य हुआ, जाकर महात्मा से बताया। उन्होंने कहा 'अरे बड़ा मूर्ख निकला ! उसने कहा प्रारब्ध में नहीं तो तुझे कहना था 'जो भाग्य में नहीं वह आप दे देवें'; प्रारब्ध में नहीं इसीलिये तो देवी से माँगने बैठा था ! तेरा अनुष्ठान पूरा हो गया, देवी तेरी तनख्वाह छह रुपये महीने से बढ़ाकर आठ रुपये कर गयीं।' बुद्धि ने तत्काल कार्य नहीं किया तो देवी से भी धन नहीं ले सका। ऐसे ही हमारे पास प्रेम तो है पर बुद्धि से उसका सही विनियोग न करने से हम उसका लाभ नहीं ले पाते। जैसे प्राणशक्ति के सही उपयोग के लिये योग ज़रूरी, ऐसे हृदयशक्ति के सही प्रयोग के लिये भक्ति ज़रूरी है। भक्तिहीन हृदय परमेश्वर को अपने भीतर खींच नहीं सकता।

हम वर्तमान में संकुचित बने रहे तो कोई प्रगति नहीं हो सकती। सांसारिक प्रगति भी तभी होती है जब भूत से शिक्षा लें और भविष्य के लिये योजनापूर्वक निवेश करें। विज्ञान के आविष्कार भी इसी तरह हो पाते हैं। अतः आध्यात्मिक साधना में 'पहले क्या था क्या पता ? आगे किसने देखा है ?'—यह आँख मूँदने की प्रवृत्ति ठीक नहीं। भूत-भविष्य की सन्धि ही तो वर्तमान है, यदि भूत-भविष्य को हटा दो तो वर्तमान क्या बचेगा ! अध्यात्मदृष्टि से

भूत में एक सच्चिदानन्द ही था और भविष्य में भी एक वही भूमा रहेगा, उसी की ओर बढ़ने का क्रम वर्तमान है। अतः अपनी समग्र भावना उसी में लगा देना ही भावना का सही निवेश है जिससे वर्तमान भी रसपूर्ण होगा और भविष्य भी आनन्दमय ही रहेगा। यह भक्ति का साधन शुरू में जितना कठिन है, एक बार हृदय में उतर जाये तो उतना ही आनंदप्रद है। महान् फल पाने में परिश्रम अधिक होना कोई आश्चर्य नहीं। शहर में साधारण मंत्री आता है तो उससे पहले सारा शहर साफ-सुथरा कर सजा दिया जाता है। जब हृदय में परब्रह्म परमात्मा को बुलाना है तब हृदय भी सब तरह के पाप-राग-द्वेषादि मलों से रहित कर स्वच्छ बनाना पड़ेगा एवं सद्गुणों से सजाना पड़ेगा। यों तैयारी में परिश्रम है जिसका तब अनन्त फल मिल जायेगा जब परमात्मा इसमें अवतरित होंगे। उनके लायक यह हृदय तभी हो जब इसमें भक्ति का रस भरा हो। सब साधनों में अगुआ भक्ति को इसीलिये बताया गया है। भक्ति ही मन को परमेश्वर की ओर प्रेरित करती है, उसे गति देती है जिससे यह योग में लगकर परमात्माकार बन जाता है।

भक्ति का प्रकट रूप है कि मन स्वतः परमेश्वर में बसे, परमेश्वर की तरफ लगातार लगे। 'परमेश्वर मेरे मन में अविच्छिन्न उपस्थिति बनाये है' यह धारणा बनी रहे, टूटे नहीं। भगवान् सब प्राणियों के हृदय में है। अपने हृदय का परमात्मा ही तुम्हारे काम का है, क्षीरसागर में सोने वाला तुम्हारे काम का नहीं ! जो नकद रुपया तुम्हारे पास है वही वक़्त पर तुम्हारे काम आता है, बैंक में पड़ा रुपया तो लम्बी कार्यवाही से ही मिल सकता है और उसमें भी कहीं कोई कागज़ ग़लत बन गया तो तुम्हारा ही रुपया तुम्हें ही नहीं मिलेगा, कहेंगे 'पहले कागज़ ठीक करवाओ।' ऐसे ही क्षीर-सागर में भी हैं प्रभु ही लेकिन तुम्हारे काम तो वही आयेंगे जो, 'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति', हृदय में मौजूद हैं, तुम्हारे प्रत्यगात्मा हैं। हैं तुम्हारे अत्यंत सन्निकट लेकिन क्योंकि उनकी तरफ मन की गति

नहीं बना पा रहे इसलिये तुम्हारे लिये वे मानो हैं ही नहीं ! मन की गति परमेश्वर की तरफ बहे इसमें प्रधान कारण है श्रुति। वेद से जब परमेश्वर-स्वरूप समझोगे तभी उससे प्रेम होगा और प्रेम होते ही मन स्वतः उधर लग जायेगा। जब तक प्रयास से लगाते हो तब तक भक्ति नहीं वरन् अभ्यास है; जब स्वतः लगे, कार्यान्तर के लिये प्रयास से उधर से हटाना पड़े तब भक्ति है। तुम्हारा पुत्र विदेश गया हुआ है। वहाँ से कोई व्यक्ति आकर तुम्हें उसका संदेश पहुँचाता है। उस समय तुम जो भी काम कर रहे हो वह अपने-आप छूट जाता है, तुम पूरी एकाग्रता से उसकी बात सुनते हो। यह नहीं कहते 'अभी फुर्सत नहीं, शाम को आना', वरन् उसी समय सारी बात सुनते हो और पुनः आने का निमंत्रण भी दे देते हो ! ऐसे ही परमेश्वर की ओर सहजता से लगे, कार्यान्तर उसमें रुकावट न डाल सकें, अधिकाधिक परमात्मवृत्ति अच्छी लगे--यह भक्ति है। अतएव स्वरूप का अनुसन्धानरूप भक्ति को मोक्षसाधनों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। सांसारिक कार्य बोझ लगें, अपने-आप तो मन में भजन की ही बात आये, तब भक्ति है और तभी नाम-साधना या कोई भी अध्यात्म-साधना निर्विघ्न होगी। भक्ति के बारे में समझाने वाले नारद और शाण्डिल्य दोनों आचार्यों ने उसके स्वाभाविक निःसीम प्रेमरूप को स्पष्ट किया है।

यह ख्याल रखना कि भक्ति का प्रारंभिक रूप और परिपक्वरूप एक नहीं हो सकता। शुरू में भक्ति 'करोगे', धीर-धीरे जब वह पकेगी तब 'करनी' नहीं पड़ेगी, होती रहेगी। साधना के प्रारंभ में ही भक्ति को ज़रूरी कहा तो यह उस परिपक्व भक्ति के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि वही आ गंयी तो आगे साधना क्या करोगे ! आधुनिक विद्यालयों में कक्षायें-अध्यापक बदलते रहते हैं, विषय भी बदल जाते हैं; किन्तु पहले ज़माने की पाठशालाओं में वे ही आचार्य उसी गद्दी पर प्रारंभ से अंत तक के ग्रंथ पढ़ा देते थे। अनेक छात्र क-ख-ग-घ से शुरू कर प्रौढ ग्रंथ पढ़ कर निकल जाते

थे, न कमरा बदलता था, न दरी, न गद्दी और न अध्यापक ! विषय भी एक ही चलता रहता था, व्याकरण ही बारह वर्षों तक पढ़ाते रहते थे, न्याय-मीमांसा आदि एक-एक विषय में इतना कुछ पढ़ने-पढ़ाने को है कि विषय बदलने की ज़रूरत नहीं। प्रवेश भी व्याकरण की कक्षा में और पढ़-लिखकर निकलते भी व्याकरण की कक्षा से थे। यही बात भक्ति की समझ लेना—साधना के प्रारंभ में भी भक्ति ही चाहिये और साधना पकेगी तब भी भक्ति ही परिपुष्ट होगी। लेकिन उस अंतिम भक्ति को पहले ही अपने में मत ढूँढो अन्यथा सोचोगे कि भक्ति नहीं है तो साधना कैसे करें ! प्रारंभ तो यत्नसाध्य भक्ति से करना पड़ेगा, उसी से साधना में लगोगे तब भक्ति सहज होती जायेगी। जैसे-जैसे भक्ति बढ़ती है वैसे-वैसे साधन-संपत्ति स्वाभाविक होने लगती है। संसार के प्रति आकर्षण, प्रेम, स्नेह, मोह अपने आप ढीले पड़ने लगते हैं। स्मरण बढ़ाते जाओ तो विषयसंस्कार स्वतः क्षीण हो जायेंगे। भगवान् से जो किया जायेगा वह 'प्रेम' कोई नया नहीं है ! प्रेम वही है जो अविवेकदशा में हम विषयों से कर रहे हैं, भगवद्-अनुस्मरण करते-करते वही उनसे हटकर परमेश्वर में स्थिर हो जायेगा। इस प्रकार भक्ति से जब वैराग्य आ जाता है--क्योंकि संसार के प्रति आकर्षण न होकर परमात्मा के प्रति खास आकर्षण, यही वैराग्य है—तब एकान्तवास स्वतः सिद्ध है। केवल जंगल में रहना ही एकांतवास नहीं है, वहाँ जाकर भी यदि जंगली जानवरों से, भीलों से डरते-डरते ही समय बिता दिया तो साधना न होने से एकान्तता सिद्ध नहीं होगी; 'एक' अर्थात् परमात्मा ही 'अन्त' अर्थात् प्रयोजन रहे, उसकी प्राप्ति के लिये ही सर्वांगीण यत्न हो, तब एकांतवास होता है। भक्त के लिये यह सर्वत्र सुलभ है क्योंकि प्रेमवश वह सब कुछ करता ही परमेश्वर के लिये है। पदार्थ में प्रेम न रहे तो वह मन को मोहता नहीं : बंगाल की 'कड़ा-पाक संदेश' एक मिठाई है, बहुत स्वादिष्ट होती है किंतु बहुत-से लोगों को वह शुष्क और गले

में अटकने वाली लगती है, पसंद नहीं आती; वह मिठाई रखी हो तो जिसे स्वादिष्ट लगती है वह तो उसके प्रति आकृष्ट होगा पर जिसे नापसंद है उसे वह किंचित् भी आकृष्ट नहीं करेगी। इसी प्रकार क्योंकि भक्त को संसार के पदार्थ नापसन्द हैं इसलिये पास पड़े रहकर भी ये उसे आकृष्ट नहीं करेंगे, मोह में नहीं डालेंगे, भजन से दूर नहीं करेंगे, इनके लिये वह भजन नहीं छोड़ सकेगा। अतः उसका एकान्तवास अनायास हो जाता है। इसी प्रकार भक्त निष्काम-कर्मयोगी भी बन जाता है क्योंकि अत्यावश्यक कार्य कर तो लेता है पर चाहता सिर्फ परमेश्वर को है, उन कार्यों के फल 'चाहता' नहीं, ज़रूरी होने से ग्रहण करता है, उपभोग भी करता है पर चाहता नहीं; जैसे कोई दवाई खाना 'चाहता' नहीं, चाहता तो स्वस्थ रहना है, अनिवार्य होने पर दवाई खाता भले ही है पर चाहता नहीं। भक्त भी चाहता परमेश्वर को है, भोजन-वस्त्र आदि की आवश्यकता पूरी भले ही करता रहता है पर यह सब उसकी कामना के विषय नहीं बनते अतः कर्म करने पर भी, उनके प्रभावभूत पदार्थ ग्रहण करने पर भी, खाने-पहनने पर भी, क्योंकि वह यह सब चाहता नहीं इसलिये उसका निष्काम-कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। भक्त को दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह के लिये भी कोई आयास नहीं करना पड़ता। इंद्रिय की उधर ही प्रवृत्ति होती है जिधर तुम्हें अच्छा लगता है। तीन दिनों की रेलयात्रा तृतीय श्रेणि के डिब्बे में बैठकर की हो तो घर पहुँचकर भोजन के बाद सिर्फ सोओगे, सिनेमा देखने जा ही नहीं सकोगे क्योंकि उस स्थिति में सिनेमा अच्छा लग ही नहीं सकता। ऐसे ही भक्त को संसार अच्छा लग ही नहीं सकता तो उसकी इंद्रियाँ संसार की तरफ प्रवृत्त कैसे हों!

बंधनानुभव एवं मुमुक्षा

हम स्वयं को संसार में बँधा तो महसूस करते हैं पर इससे

छूटने की कोई छटपटाहट नहीं महसूस करते ! जेल में मज़बूत साँकलों से बँधे होने पर भी कैदी भाग निकलने में समर्थ हो जाते हैं जबकि किसी ऐसे स्थूल बंधन के बिना भी हम अपने घरबार के 'बंधनों' से छूट नहीं पाते। कारण क्या है ? संसार से हमारा बंधन स्नेह का है, उसे हम अपना विरोधी समझते नहीं। जिसे बाँधने वाला समझ लोगे, अपने पुरुषार्थ का प्रतिबंधक समझ लोगे उससे छूटना सरल हो जायेगा, वह बंधन अवश्य खुल जायेगा। अज्ञान की यह महत्ता है कि वह बंधन को पहचानने नहीं देता, विरोधी को भी हितैषी के रूप में दिखाता है। किन्तु जब उसे दुश्मन समझ लेते हो तब वह तुम्हें बाँधने में अक्षम हो जाता है।

प्रसिद्ध है कि परिचित चोर से डर नहीं रहता ! एक बार श्री विद्यारण्य स्वामी को जंगल में एक आदमी मिला, बोला 'महाराज! मेरी पत्नी मर चुकी है, संसार से वैराग्य हो गया है, आपकी सेवा में जीवन बिताकर कुछ अपना कल्याण करना चाहता हूँ।' उन्हें दया आ गयी, उसे रख लिया। धीरे-धीरे मठ में कार्यरत हो गया, विद्यारण्य स्वामी का भी विश्वासपात्र बन गया। इस बीच मैसूर का कोतवाल स्वामी जी के दर्शन करने आया तो उस आदमी को देखकर ठिठक गया, वह आदमी भी सहम गया। स्वामी जी ने पूछा तो कोतवाल ने कहा 'यह राज्य का खजाना चुराकर भागा है, अपराधी है।' उन्होंने इतने समय तक इसका आचार-व्यवहार देखा ही था, समझ गये कि पहले जैसा भी रहा हो अब परिवर्तित हो गया है, अतः कोतवाल से कहा कि 'यहीं बना रहने दो, गिरफ्तार मत करो।' उसने सावधान भी किया कि 'मठ में भी चोरी कर सकता है' पर उन्होंने कहा 'चिंता मत करो, कुछ नहीं करेगा।' उस आदमी ने कोतवाल-स्वामी जी को अपने बारे में बातचीत करते देख लिया ही था, अतः उसे पता चल गया कि स्वामी जी को सारा किस्सा मालूम हो गया है। फिर भी क्योंकि वह जानता था कि 'मठ में इनके संरक्षण में सुरक्षित रहूँगा, बाहर निकला तो पकड़

लिया जाऊँगा' इसलिये वह भागा नहीं। किन्तु अब क्योंकि उसे जान लिया गया था कि वह चोर है इसलिये कभी-कभार मौका मिलने पर भी, मन में आने पर भी वह चोरी कर नहीं पाता था, जानता था कि अवश्य ही पकड़ लिया जायेगा। धीरे-धीरे उसकी भी वृत्ति बदल गयी, साधना में लग गया। इसीलिये कहते हैं कि ज्ञात चोर से डर नहीं होता।

इसी प्रकार स्नेह के बंधन को यदि बंधन समझ लो, तुम्हारे कल्याण को वह रोकता है यह तुम्हें स्पष्ट हो जाये, तो वे ही बंधु-बांधव तुम्हारी हानि नहीं कर पायेंगे। न लोग बदलेंगे, न तुम्हें कहीं भाग कर जाना पड़ेगा, केवल यह समझ कर याद रखना पड़ेगा कि इनसे जो मेरा स्नेह है वह मुझे परतंत्र बना रहा है, अपने व्यापक स्वरूप में, भूमरूप में स्थिर नहीं रहने दे रहा है; यह अवबोध रहा तो बंधुओं से 'व्यवहार' बना रहने पर भी तुम्हें वे बाँध नहीं पायेंगे। वस्तुतस्तु बाँध तो अभी भी तुम ही स्वयं को अपने ही स्नेह से रहे हो ! जब समझ लोगे तब वह बँधना छोड़ दोगे। स्नेह, प्रेम परमेश्वर से होगा तो यह कार्य स्वयं संपन्न हो जायेगा। जब सांसारिक बंधन ढीले पड़ेंगे तब अधिकाधिक साधना संभव होती जायेगी और परमेश्वर से प्रेम गंभीरतर होता जायेगा। इस प्रकार भक्ति साधनसंपत्ति के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। इस भक्ति से जब वाक् का मन्त्रयोग में प्रयोग करोगे तब शोकसागर से पार जाने का मार्ग तय होगा।

भक्ति साधनान्तर की संग्राहिका बन जाती है इतना ही नहीं, इसमें एक स्वाभाविकता भी है जिसे समझ लें तो भक्ति की तरफ प्रवृत्ति सरस हो जायेगी। मानव स्वभावतः प्रेम करता है। बिना किसी से प्रेम किये मानव सुख से जी ही नहीं सकता। प्रेम करना मनुष्य की मानो मज़बूरी है ! क्योंकि हर व्यक्ति स्वयं के प्रति अन्यों का प्रेम चाहता है इसलिये स्वयं भी किसी से प्रेम अवश्य करता है। छोटा बच्चा गुड़िया से, बड़ा बच्चा दोस्तों से, फिर विद्या,

खेल, पत्नी, बच्चे, धन आदि से प्रेम करने लगता है। जागतिक पदार्थों या व्यक्तियों के प्रति अपने प्रेम को हम उड़ेल रहे हैं। किन्तु चाहे जितनी कोशिश करें, न तो हम उन्हें प्रेम से पूर्ण कर पाते हैं और न अपनी अभीष्ट प्रतिक्रिया ही उनसे हमें मिलती है। संसारी पदार्थ अवश्य धोखा दे जाते हैं ! जब जो उपलब्ध नहीं तब उसकी ओर प्रेम से प्रवृत्त होते हैं लेकिन उपलब्ध होने पर वह उतने प्रेम के लायक नहीं लगता ! नश्वर वस्तुओं से प्रेम हमें मुख्यतः दुःख ही देता है। प्रेम होना सुखद चाहिये किन्तु विषय ग़लत होने से वह दुःखद बना रहता है। लोक में देखा गया है कि परिश्रम समान होने पर भी विषयभेद से फल में विशेष आ जाता है। लट्ठा हो या ऊनी कपड़ा, सिलाई का श्रम तो एक-सा है पर लट्ठा सीने के पाँच रुपये मिलेंगे तो ऊनी कपड़ा सीने के पंद्रह रुपये मिल जायेंगे ! जितनी मेहनत संसार के लिये करते हो उतनी ही परमेश्वर के लिये करो तो ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ पड़ जायेगा; संसार के लिये मेहनत दुःख देती है, परमेश्वर के लिये वही अनंत सुख देगी। परमेश्वर-प्राप्ति को कठिन कहते हैं लेकिन विचार करो तो संसार के लिये जितना करते हो उससे वह बिलकुल ज़्यादा कठिन नहीं है। सुबह से शाम तक दुकान पर बैठो, दसियों ग्राहकों की बातें सुनो, नये माल की व्यवस्था करो, हिसाब मिलाओ, न जाने कितना परिश्रम करो तो हज़ार-दो हज़ार रुपये महीना कमा पाते हो। परमार्थ के लिये कोई इससे ज़्यादा परिश्रम तो चाहिये नहीं। लेकिन ग्राहक की इन्तज़ार में छह घंटे बिता देने वाले, आधा घण्टा ध्यान करने बैठते हैं और ध्यान लग नहीं पाता तो कहते हैं 'बड़ा कठिन काम है !' तथा धन्धे से लगते हैं। जैसे ग्राहक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब आयेगा तब दिन भर की कमाई करा जायेगा, ऐसे ध्यान की कोशिश करते रहो, जब लग जायेगा तब असीम आनंद दे जायेगा। पत्थर में कील ठोको, काफी मेहनत लगेगी; पत्थर यदि पारस का हुआ तो भी कील ठोकने में मेहनत उतनी ही लगेगी लेकिन कील

सोने की हो जायेगी ! प्रेम, परिश्रम भी संसार की तरफ करो तो जितना ज़ोर पड़ता है उतना ही परमेश्वर की तरफ करने पर भी पड़ेगा लेकिन फल में महान् अंतर आ जायेगा।

पशुभाव का त्याग

ईश्वरभाव, देवभाव की ओर बढ़ने पर पशुभाव छूटता जाता है। सात्त्विकता में बढ़ोतरी करोगे तो तामसता घटेगी ही। खान-पान में भी यही बात है, जब सात्त्विक आहार रखोगे तब तामस आहार छोड़ना पड़ेगा। सर्वत्र यह नियम है कि दैव की तरफ बढ़ने पर पशुता घटती जायेगी। आज लोग खाना-पीना-बच्चे पालना बस इतने दायरे को ही पर्याप्त मानने लगे हैं किन्तु यह तो पशुओं के दायरे जितना ही है—वे भी खाते, पीते, बच्चे पाल लेते हैं ! मानव की विशेषता यह सब नहीं वरन् ईश्वरप्राप्ति ही उसकी विशेषता है। पशु के पास ईश्वरज्ञान का उपाय, शास्त्र नहीं है जो मनुष्य के पास है। पशुता से विकसित होकर ईश्वरता तक पहुँचे यही मनुष्य का विकास है, सांसारिक भोगों की अभिवृद्धि विकास नहीं है। विज्ञान बाह्य जगत् के नियम खोजकर तकनीक के प्रयोग से सुविधायें बढ़ाये यह मानव की तरक्की नहीं मानी जायेगी। सत्यवादिता, अहिंसा, करुणा बढ़ें, घूसखोरी, चोरबाजारी घटे, दैवी संपत् में वृद्धि हो, आसुरी संपत् क्षीण हो तभी मानव की तरक्की है। पशुभाव से हटकर मानवभाव में आने के लिये किया गया परिश्रम ही उन्नति कहा जा सकता है। जब साधक अपना प्रेम परमेश्वर से जोड़ता है तब यह सहज हो जाता है कि ईश्वरभाव का विकास होने लगता है और पशुभाव घटने लगता है।

प्रेम जिसके प्रति होता है उसी की प्रधानता हुआ करती है। भक्ति होने पर अपनी नहीं वरन् ईश्वर की इच्छा ही प्रधान रहेगी, उसी की परिपूर्ति की कोशिश होगी, 'मैं जो चाहता हूँ वह हो' की

जगह 'ईश्वर जो चाहता है वही हो' यह धारणा दृढ-दृढतर होती जायेगी। इसमें यदि अपना नुकसान भी करना पड़े तो बुरा नहीं लगेगा, क्योंकि प्रेम वृत्ति ही ऐसी है कि खुद कष्ट सहकर भी प्रिय को सुख देने में प्रवृत्त करती है। मित्र, पुत्र आदि के सुख के लिये लोग अपने सुख छोड़ते देखे ही जाते हैं। और प्रिय के सुख से प्रेमी स्वयं को सुखी महसूस करता है, कष्ट नहीं याद रखता। भक्त भी परमेश्वर की इच्छापूर्ति के लिये अपने सुख छोड़ेगा और वह सुख छोड़ना उसे कष्ट इसीलिये नहीं लगेगा कि ईश्वर प्रसन्न हो रहा है। पुत्री के सुख के लिये कर्ज़ा लेकर उसकी शादी करते हो, बेटे की पढ़ाई के लिये भी उधार लेकर पाँच साल तक चुकाते रहते हो; अपने इन प्रेमपात्रों के उद्देश्य से कष्ट सहना कठिन नहीं लगता लेकिन भगवान् से प्रेम की बात आते ही कोई-न-कोई स्वार्थ आगे रख देते हो ! भगवान् ने शास्त्र में अपनी इच्छाएँ बता रखी हैं, वे क्या चाहते हैं तुम करो और क्या न करो। तुम सच बोलते हो तो वे प्रसन्न होते हैं, चोरी नहीं करते तो वे प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता के लिये सच बोलते हो तो तुम्हें कष्ट भी हो सकता है लेकिन यदि भक्ति है तो उनकी प्रसन्नता प्रधान होगी, जिससे वह कष्ट भुला कर सच ही बोलोगे, चोरी नहीं ही करोगे। स्वार्थ घटता जाये, परमार्थ बढ़ता जाये—यही भक्ति का मापदण्ड है। भक्त प्रभुचिन्तन में ही अधिकाधिक डूबता जाता है। केवल बाहरी कर्मकाण्ड पर भक्ति नहीं टिकती, परमेश्वर की इच्छा से अपनी इच्छा मिले—यह भक्ति का आधार है। जहाँ कहीं जो कुछ हो रहा है वह परमेश्वर का ही विधान है। उसी की इच्छा पूरी हो रही है; उसके विपरीत अपनी इच्छा हो या चेष्टा हो तो समझो भक्ति में न्यूनता आ रही है। संसार के कल्याण की योजना में मत लगो, अपना कल्याण करो जिसका सीधा उपाय है कि परमेश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिला दो; यह करने पर संसार का कल्याण स्वतः हो जायेगा। दुनिया वाले झूठ क्यों बोलते हैं ?—इसमें

परेशान रहने से किसी का कल्याण नहीं होगा। तुम सच बोलने लग जाओ; इससे तुम्हारा भी कल्याण और उतना झूठ दुनिया से हट गया, अतः दुनिया का भी कल्याण। लोग सरकार पर दोष देते हैं कि भ्रष्टाचार बढ़ा दिया पर विचार करो, क्या कोई कानून बना है कि मांस खाओ, शराब पियो ? मांस तुम खाते हो, इस भ्रष्ट आचार को तुम दूर कर सकते हो। जो तुम्हारे नियंत्रण में है वह कार्य करो, जिस पर तुम्हारा नियंत्रण नहीं उसकी बातें करके स्वयं के भ्रष्टाचार को छिपाने को कोशिश सर्वथा हानिकारक है। दूसरों की चिंता छोड़ो क्योंकि सर्वत्र परमेश्वर की इच्छा पूरी हो रही है; चिंता यह करो कि 'क्या मैं परमेश्वर की इच्छा पूरी करने का यत्न कर रहा हूँ या अपनी ही इच्छा पूरी रहा हूँ ?' भक्त के लिये यही प्रधान है कि उसकी सारी सामर्थ्य प्रभु की इच्छा पूरी करने में लगे।

भक्ति हृदय में आये इसके लिये चित्तभूमि तैयार करनी पड़ती है, योग्य स्थान होने पर ही भक्ति का अवतरण होता है। इसके लिये बहुत पढ़ना-लिखना तर्क करना ज़रूरी नहीं। ऐसा नहीं कि तर्क से ईश्वर सिद्ध कर लेंगे तो उससे प्रेम हो जायेगा ! बालक माता से इसलिये प्रेम नहीं करता कि उसे तर्क से सिद्ध कर सकता है ! तीक्ष्ण बुद्धि तो वैज्ञानिकों की, उद्योगपतियों की भी होती है पर ज़रूरी नहीं कि वे सब भक्त ही हों। भक्ति होगी तो परमेश्वर की कृपा से ही किन्तु इसके लिये अपना मानस ठीक करना होगा, दुश्चरित्र छोड़कर सच्चरित्र अपनाने होंगे, मन नियंत्रित करना होगा, संसार का आकर्षण ढीला करना होगा, स्वार्थ की प्रधानता छोड़नी होगी, अपने अभिमान की निस्तेजता स्वीकारनी पड़ेगी। किसी मतलब से, इच्छापूर्ति के लिये भगवान् से संबंध रखना अध्यात्म महत्त्व की भक्ति नहीं है। यज्ञ-पूजा-तप-अध्ययन आदि सभी चेष्टाएँ हम स्वार्थसिद्धि के लिये भी कर सकते हैं, उनका फल देते भगवान् ही हैं लेकिन शोक-निवृत्ति के लिये वे निरुपयोगी

हैं, उनसे तत्तत् फल ही मिल जाते हैं, भक्ति संपन्न नहीं होती। ये सभी कर्म भक्ति के लिये भी किये जा सकते हैं, किन्तु तब कोई सांसारिक वस्तु की इच्छा बिना रखे केवल 'प्रभु की भक्ति मिले' इसी एक उद्देश्य से, इसी प्रार्थना से इनका अनुष्ठान करना होगा। जब चित्त योग्य देखेंगे तब भगवान् ही इसमें भक्ति का उन्मेष करेंगे। जो सत्पुरुषों का उपदेश माने नहीं और शुभ बात समझकर भी अपने विचार बदले नहीं उस दुर्दान्त और कुमति के लिये भक्ति प्राप्त करना असंभव है। उद्दण्डता और घमण्ड हटे बिना परमेश्वर से प्रेम हो नहीं सकता।

दक्षिण में भद्र-नामक एक परमेश्वर-भक्त हुए हैं जो गायनकला में अतिनिपुण थे। राजा ने उन्हें मंदिर के गायक के पद पर नियुक्त किया था। वे तो केवल परमेश्वर के प्रति प्रेम से ही गाया करते थे, उस नियुक्ति से गाने का मौका ज़्यादा मिलता है, इसीलिये उन्होंने वह पद स्वीकारा था, किसी अन्य लोभ से नहीं। फिर भी पद के अनुसार उनकी सारी सुख-सुविधा की व्यवस्था राज्य की ओर से की ही जाती थी। आजकल लोग अपने मौज-शौक बढ़ाने में शान समझते हैं, भगवान् के लिये, धर्म के लिये करने में बोझ समझते हैं; शादी के बाकी खर्च में ग्यारह हज़ार लगाकर प्रसन्न होते हैं पर पुरोहित को ग्यारह रुपये भी देने मुश्किल लगते हैं! प्राचीन काल में दृष्टि ऐसी नहीं थी, धर्म के लिये, भगवान् के लिये अच्छे-से-अच्छी व्यवस्था करने में लोग प्रसन्न होते थे। राजा ने भी 'भगवान् का गायक है' समझकर भद्र की उत्तम व्यवस्था की थी। एक अन्य गायक ने भद्र की कीर्ति सुनी। संसारी लोग दूसरे का यश सह नहीं पाते, दूसरे के यश से प्रसन्न होने के बजाये दुःखी होते हैं। उस गायक को भी भद्र से स्पर्धा हुई और वह उस पद को पाने की कोशिश करने लगा। उसने राजा के पास खबर भेजी 'मैं भद्र से अधिक निपुण गायक हूँ, मुकाबला करा लिया जाये, जो श्रेष्ठ हो वही मंदिर में गायक-पद पर प्रतिष्ठित हो।' राजा ने बात मान ली,

मुकाबला निश्चित हो गया। भद्र को पता चला तो उसने सोचा कि यह गायक ज़्यादा निपुण निकला तो भगवान् का संग छूट जायेगा उसने प्रभु से प्रार्थना की 'भगवान् ! मेरा क्या अपराध है ? क्या मेरा गायन आपको पसंद नहीं ? यदि पसंद है तो मेरी रक्षा करो!'

भगवान् ने भक्त की पुकार सुनी। वे एक लकड़हारे के वेश में सिर पर लकड़ियों का गट्ठर लिये गाते हुए शहर में घूमने लगे। वे गा रहे थे--'यह ईंधन स्वयं काट कर लाया हूँ। लकड़ी सूखी है, कीड़ों की खाई नहीं है, भारी है, बिना काँटों की है, चाहो तो हवन के लिये ले सकते हो !' किन्तु दिन-भर में उन्हें कोई ग्राहक नहीं मिला ! शाम को वे उस नये गायक के घर के सामने लकड़ियाँ रखकर बैठ गये और अत्यन्त अलौकिक मधुर स्वर से गाने लगे। वह गायक बाहर आया, उस अत्यन्त परिशुद्ध दिव्य गाने से और लकड़हारे के मुख से उसे सुनकर हतप्रभ हो गया, जाकर उससे उसका संप्रदाय पूछने लगा। लकड़हारा बोला 'मैंने गाना सीखा नहीं है। भद्र नाम का एक गवैया है, उसी के पास बैठा रहता हूँ तो उसका गायन सुनकर यों ही कुछ गुनगुना लेता हूँ।' वह गायक चकित रह गया, सोचने लगा 'जिसके पास बैठने वाला ऐसा गा रहा है वह न जाने कितना कुशल होगा !' उसने सोचा कि मुकाबले में हारने से ज्यादा फ़जीहत होगी, अतः राजा से जाकर कह दिया कि वह मुकाबले से बाहर हो गया है।

जब उसका अभिमान दूर हो गया तब वह स्वयं भद्र के पास जाकर उसका शिष्य बना। पहले तो संगीत ही सीखता रहा लेकिन भक्त की सन्निधि में रहने से अपने अंदर भी भक्ति का पदार्पण हो जाता है अतः बाद में उसने उपासना भी सीखी और भक्तिभाव से गायन द्वारा भगवान् को प्रसन्न कर उनका साक्षात्कार प्राप्त किया। बिना अभिमान मिटे परमेश्वर की ओर प्रवृत्ति संभव नहीं।

उपसंहार

कल्याणकारी बुद्धि ही भद्र है जो लगातार परमात्मा का ही गान, चिंतन करती है। इसे जीतना चाहने वाला गायक मन है जो परमेश्वर-प्रेम को नहीं समझता, सांसारिक सुख-सुविधा पाने के लिये पाप आदि सब तरह की प्रवृत्तियाँ कर लेता है। परमात्मा अपने सामान्य रूप से जो अपनी कृपा 'बेचते' हैं वह लकड़हारा है। हमने सेवा-पूजा की, भगवान् ने फल दिया--यह खरीद-फरोख़्त की दृष्टि है; फल तो वे कृपा से ही देते हैं पर हम अपने किये से जोड़ कर उसे 'बेचना' ही समझते हैं। किन्तु अभिमान रहते हम वह भी भगवान् से खरीद नहीं पाते ! संसार के लाभ के लिये भी अपने ही प्रयत्न को प्रधान रखते हैं, भगवान् से प्रार्थना कर उनसे नहीं कहते कि 'आपकी कृपा से यह सुखमय बने' वरन् खुद ही कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। जब कभी भगवल्लीला से अभिभूत होकर अभिमान गलित होता है तभी जीव सद्बुद्धि की शरण लेकर धीरे-धीरे अपनी प्रवृत्ति सुधार कर अंत में भक्ति का अधिकारी बन जाता है।

भक्तिपूर्वक साधना का अभ्यास ही प्रत्यग्रूप से समवस्थित परमेश्वर का साक्षात्कार करा सकता है। प्रत्यगात्मा ही परिपूर्ण व्यापक भूम वस्तु है, यह निःशंक समझ आने पर ही शोक की निवृत्ति होगी, अन्य कोई ढंग नहीं जिससे शोक दूर हो। यदि कोई और तरीका होता तो देवर्षि नारद ने इतना विद्यार्जन कर अपना शोक मिटा ही लिया होता। वे स्पष्ट कहते हैं कि सब पढ़कर भी शोक नहीं मिटा अतः निश्चय जानना चाहिये कि भूम तत्त्व के साक्षात्कार के बिना शोक समाप्त नहीं हो सकता। उस साक्षात्कार के लिये ही सारी साधना है। सत्कर्म, विवेकादि से प्रारंभ कर मंत्रयोग पर्यन्त एवं अन्य भी सारे अनुष्ठानों की सफलता इसीमें है कि परमात्म-साक्षात्कार से शोक की समूल निवृत्ति हो जाये।